सम्मेलन पत्रिका

भाग ६३ : संख्या १

पौष-फाल्गुन : शक १८९८



हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

सम्मेलन की अभूपूर्व प्रकाशन योजना

भारतीय धर्म-संस्कृति-विश्वकोश

(इन्साइक्लोपीडिया)

⊙

आगामी पाँच वर्षों में प्रकाश्यमान

प्रथम बार बारह खण्डों में
सम्पूर्ण भारतीय धर्म, दर्शन, साधना, कला
और साहित्य पर सर्वाधिक प्रामाणिक एवं संग्रहणीय प्रकाशन

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

सम्मेलन-पत्रिका

(त्रैमासिक)

⊙

भाग ६३ : संख्या १

पौष-फाल्गुन : शक १८९८

⊙

प्रधान सम्पादक

जगदीश स्वरूप

⊙

सम्पादक

श्यामकृष्ण पाण्डेय

सहायक सम्पादक

बैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा : हरिमोहन मालवीय

वार्षिक १५.०० }

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

{ एक प्रति ३.७५

प्रकाशक
जगदीश स्वरूप
आदाता : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
⊙
मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

विषय-सूची

लेख-लेखक

पृष्ठ संख्या

विविधा

परिचर्चा

पुराण-पाठों का पौराणिक अर्थाधान

श्री चन्द्रकान्त बाली

भारतीय संस्कृति के महामहिम ग्रन्थों में वेद-चतुष्टयी के बाद दूसरा स्थान 'पुराण-नवद्वयी' का है। उत्पत्ति की दृष्टि से पुराण स्यात् वेदों-से वयस्क[1] सिद्ध हो जायं! परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वेदों के सर्वाधिक उपकारक होने से वेद पुराण-मय[2] हो गए हैं और पुराण वेदमय[3]। पुराणों के साथ-साथ इतिहास का भी वेदोपकारक[4] होना एक वास्तविकता है। यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि 'इतिहास' मात्सर्यातीत, संस्कृति-निष्ठ, विद्या-विचक्षण एवं सदाचारी अधिकारी जनों द्वारा प्रणीत होने चाहिएँ।

पुराण-ग्रन्थों में इतिहास-तत्त्व भी यत्र-तत्र सन्निविष्ट हैं। इतिहास और पुराण-ग्रन्थों को एक ही विद्या की दो विधाएँ माना जा सकता है। दोनों (अपनी-अपनी शैली में) विगत घटनाओं को लिपिबद्ध करते हैं। यह तत्त्व इन दोनों विद्या-विधाओं का सामान्य गुण है। लिपिवद्ध करने की विचित्र शैली ही इतिहास और पुराण-ग्रन्थों को न्यारा-न्यारा करती है। संयोग की बात है, पुराण-ग्रन्थों ने भारत-संग्राम-पूर्ववर्ती घटना-समूह को रूपकमयी, कथाप्राण तथा रोचक शैली में प्रतिपादित किया है; संग्राम-परवर्ती घटना-समूह को वैसा प्रतिपादित नहीं किया; इसी से इतिहास का 'इतिहासत्त्व' उभरकर प्रकाश में आया है और यहीं से उसकी अविच्छिन्न धारा बह निकली है। अस्तु।

इधर के संस्कृत के विद्वान्—जिनकी धार्मिक निष्ठा एवं संस्कृति-परायणता सदा स्तुत्य रही है; जिनकी शास्त्र-मर्मज्ञता अन्य जनों के लिए आदरणीय रही है—कतिपय पुराण-

---

१. पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः॥

२. (क) नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद अथर्वणश्चतुर्थ इतिहास-पुराणः पंचमो वेदानां वेदः। —छान्दोग्य ७।१।४

(ख) वाग्वा नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयामि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम् इतिहास-पुराणं च पञ्चमम्। —छान्दोग्य ७।२।१

३. वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः। आत्मा पुराणं वेदानाम्......

४. इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति। —महाभारत

पाठों का अर्थाधान प्रस्तुत करने में जरा असावधान हो गए हैं। अतः न चाहने पर भी उनसे पौराणिक पद्धति का उल्लंघन-जैसा प्रज्ञापराध हो गया है।

पूर्व इसके कि सनातनधर्मी-विद्वज्जनों के समक्ष कतिपय पुराण-पाठों का पौराणिक अर्थाधान प्रस्तुत करें, उस मूल तत्त्व पर प्रकाश डालना समीचीन रहेगा, जिस कारण ये भूलें संभव हो सकीं।

संवत्

इतिहास का एक अपरिहार्य तत्त्व है—सन्-संवत् का उल्लेख। सन्-संवत् के बिना 'इतिहास' की छवि में निखार नहीं आता; बल्कि वह कभी-कभी उपन्यास-छवि में परिणत हो जाती है। पुराण-ग्रन्थों में सन्निविष्ट इतिहास भी जिस सन्-संवत् के आलोक में लिखे गए हैं, वह है **'सप्तर्षि-संवत्'**।

पुराण-ग्रन्थों में सप्तर्षि-संवत् पर उट्टंकित टिप्पणियाँ एव परिभाषाएँ पर्याप्त मात्रा में वर्तमान हैं। उनके मनोयोग-पूर्वक चिन्तन से शोधकर्ता को प्रशस्त मार्ग मिल सकता है। पुनरपि आत्मसंतोष के लिए कतिपय व्यावहारिक नियम स्मरण रख लेना अच्छा है:

१. सप्तर्षिगण एक-एक नक्षत्र में सौ-सौ साल[1] संचार करते हैं। नक्षत्र २७ हैं।

२. सप्तर्षि-कालगणना २७ × १०० = २७०० वर्षों के पश्चात् पुनः नए सिरे से आरंभ होती है; १-२-३-४,–आदि।

३. तीन सौ सप्तर्षि-वर्षों के पीछे ३०२ सौर-वर्ष गिनने का अनिवार्य नियम है।

४. सप्तर्षि-संवत् के दो चक्र हैं; दोनों चक्रों में ४०० वर्षों का व्यवधान है। परन्तु मूल गणना में कोई अन्तर नहीं है; यथा—

भारत-संग्राम { (१) **सप्तर्षि-संवत् १०१५** / (२) **सप्तर्षि-संवत् ६१५** } = ३१४८ ईसवी पूर्व

५. पुराण-ग्रन्थों में सप्तर्षि-संवत् का निर्देशक शब्द है— **'समाः'** समा नित्य बहुवचनान्त और स्त्रीलिंग है। यद्यपि 'समाः' साधारण वर्ष-बोधक[2] शब्दों की भाँति है, कोई विशेषार्थगर्भित संज्ञा नहीं है; तथापि **केवल** पुराण-ग्रन्थों में उसका निर्देशन **केवल** सप्तर्षि-संवत्[3] के लिए सुनिश्चित है—यह पक्की बात है।

६. सप्तर्षि-संवत् में सैकड़ा के अंक छोड़ दिए जाते हैं; यथा—७३१ लिखना इष्ट हो तो ३१ लिखने मात्र से काम चल जाता है। (जैसे आजकल तारीख लिखने का नियम है—१ जनवरी ७७) क्वचित् सैकड़ा तथा हजार के अंक भी उल्लिखित मिल जाते हैं।

---

१. **एकस्मिनृक्षे शतं शतं ते चरन्ति वर्षाणाम्।** —बृ० स० १३।४

२. **हायनाब्दशरद्वर्ष-वत्सरसमाः समाः।** —हलायुध ११६

३. **स्वातिश्चभविता राजा समास्त्वष्टा दशैव तु।** —पुराण पाठ

टिप्पणी—'ज्योतिष्मती' के विगत अंकों में (१९।४ तथा २०।१) 'नन्दकाल' का निर्णय इसी सप्तर्षि-संवत् के आधार पर लिया था।—लेखक

पुराण-पाठ

अब कुछ पौराणिक पाठों का अपौराणिक तथा पौराणिक अर्थाभ्यास का विवेचन करेंगे। यथा—

१. यावत्परिक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्[1]।
एतद्वर्ष-सहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चदशोत्तरम्[2]॥
(एवं वर्ष-सहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चाशदुत्तरम्[3]) —पाठान्तर

प्रायः यही पाठ मत्स्यपुराण २७३।३६; ब्रह्माण्डपुराण ३।७४।२२७; विष्णुपुराण ४।२४।१०४; वायुपुराण ९९।४१५ में समुपलब्ध है।

अपौराणिक अर्थ : "जब परीक्षित का जन्म हुआ और जब नन्द का अभिषेक हुआ दोनों का मध्यान्तर समय १०१५ वर्ष है।" (अथवा—दोनों का मध्यान्तर समय १०५० वर्ष[4] है)

पौराणिक अर्थ : इसके विपरीत पौराणिक अर्थ इस प्रकार है: "जब राजा परीक्षित का जन्म हुआ, तब सप्तर्षि-संवत् १०१५ था; और जब राजा नन्द का अभिषेक हुआ, तब (२७०० वर्ष-पश्चात्) सप्तर्षि-संवत् १०१५ ही था[5]।"

यहाँ स्मरण रखने की बात इतनी है कि जब युधिष्ठिर शासनासीन थे, तब सप्तर्षिगण मघा नक्षत्र पर थे; और जब नन्द का अभिषेक हुआ, तब भी सप्तर्षि-मण्डल मघा नक्षत्र के साथ भ्रमणशील थे। इतिहास के भिन्न-भिन्न अवसरों पर सप्तर्षि-मण्डल का 'एक समान गतिमन्त' होना विचित्र दैवी संयोग है। सप्तर्षि-गणना तथा सौर-गणना में १८ वर्षों का व्यवधान है; यथा—**२७०० सप्तर्षि-संवत्=२७१८ सौर-वर्ष** ; अतः भारत-संग्राम से लेकर नन्द तक ३१४८-२७१८=४३० ईसवी पूर्व तक २७१८ वर्षों का मध्यान्तर काल न केवल पुराणों के अनुरूप है, बल्कि इतिहास के समकक्ष भी है।

२. यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढां महर्षयः।
तदा नन्दात् प्रभृत्येष कलिर्वृद्धिं गमिष्यति॥ —नाना पाठान्तर

---

१. आरभ्य भवतो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्। —भागवत पाठान्तर १२।२।३६

२. नाना पाठान्तर—शतोत्तरम् (१५००); शतत्रयम् (२५००); पंचशतोत्तरम् (११०५); इत्यादि।

३. पार्जीटर ने इसी पाठान्तर को अधिमान दिया है: "अब महापद्म के अभिषेक और परीक्षित् के जन्म तक यह काल सचमुच १०५० वर्ष जानना चाहिए।" डॉ० देवसहाय त्रिवेद भी इसी अर्थ के कायल हैं। —हिन्दुस्तानी पत्रिका १७।१, पृ० ६५

४. वर्ष-सहस्रं पञ्चदशोत्तरं शतं चेति (१११५ वर्ष) कयाऽपि विवक्षया अवान्तर-संख्येयम्। —श्रीधर; हिन्दुस्तानी पत्रिका; १७।१, १९४७, पृष्ठ ६९

५. द्रष्टव्य—'सरस्वती' इलाहाबाद; मई १९७३, संख्या ७४। १। ५, पृष्ठ ३४३, तथा 'ज्योतिष्मती' सोलन; १९१४, जुलाई ७६, संख्या २०।१, अक्टूबर ७६।

इस पुराण-पाठ को पहले उट्टंकित पुराण-पाठ (१) का उत्तरार्द्ध समझना चाहिए। जब-जब सप्तर्षि-गणना के मघाकालीन युग पर विवाद रहेगा, तब इन श्लोकों के समन्वित अर्थ से ही समस्या सुलझेगी, अन्यथा नहीं।

अपौराणिक अर्थ : "परीक्षित् के जन्म के समय सप्तर्षिगण मघा नक्षत्र पर थे, और नन्द के अभिषेक के समय उत्तराषाढ़ पर; इस प्रकार इनके काल-निर्णय में भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।[१]

पौराणिक अर्थ : जब मघा नक्षत्र से (हटकर) सप्तर्षिगण पूर्वाषाढ़ा की ओर बढ़ेंगे, तब नन्द (-काल) से (उत्तरोत्तर) कलियुग बढ़ता ही चला जाएगा।

३. यस्मिन् कृष्णो दिवं यातः तस्मिन्नेव तदाहनि।
प्रतिपन्नः कलियुगः तस्य संख्यां निबोधत॥ —वायु ९९।४२५

बड़े विस्मय की बात है, इस पुराण-पाठ के भ्रामक अर्थविन्यास में बड़े प्रकाण्ड पण्डितों का योगदान रहा है। वे लोग पुराण-परिशीलन के बिना नए-नए परस्पर-विरोधी अर्थ प्रस्तावित करने में अग्रणी रहे हैं।

अपौराणिक अर्थ : "जिस दिन श्रीकृष्ण ने देह त्यागा, उसी दिन कलि प्रवृत्त हुआ।[२]

पौराणिक अर्थ : जिस (दिव्य) दिवस में भगवान् श्रीकृष्ण ने श्री विग्रह-विसर्जन किया, उसी दिन (दिव्य) कलियुग का आरंभ हुआ; उसकी (दिव्य काल-) गणना को समझना चाहिए।

महाभारत-संग्राम से लेकर कलि-समारंभ तक, अर्थात् द्वापरयुग के ठीक इन मध्यान्तर वर्षों में एक बहुत बड़ी घटना घटी, जिसने पूर्ववर्ती और परवर्ती युगों को प्रभावित किया। वह घटना थी—भगवान् श्रीकृष्ण का विग्रह-विसर्जन। संस्कृत के पण्डित (कथावाचक) तथा इतिहासकार 'भारत-संग्राम' को भूल गए, और याद रख लिया श्रीकृष्ण के तनु-पात को। अब इतिहास की धुरी 'भारत-संग्राम' की बजाय 'श्रीकृष्ण-निधन' निश्चित हुई। यहीं से 'अपौराणिकता' का सूत्रपात हुआ।

इस समूचे संदर्भ पर, सप्तर्षि-संवत् के परिप्रेक्ष्य में विचार करने की ज़रूरत है। शोधार्थीगण ज्यों-ज्यों सप्तर्षि-संवत् को भूलते जाएँगे, त्यों-त्यों धुँधले मार्ग की ओर बढ़ते रहेंगे; ज्यों-ज्यों सप्तर्षि-संवत् स्पष्ट होता जाएगा, त्यों-त्यों पुराण और इतिहास की छवि में निखार आता जाएगा।

विमर्श-परामर्श

पुराण-ग्रन्थों में विद्यमान इतिहास को प्रभावित करनेवाले कतिपय पुराण-पाठों का परिशीलन हमारा लक्ष्य है। अन्य अनेक पाठान्तरों पर ऊहापोह करना विषयान्तर में चले जाना है—जो हमारे लिए समीचीन नहीं है।

---

१. महाभारत की ऐतिहासिकता : पं० जानकीनाथ शर्मा; 'कल्याण' ४९।१२ पृष्ठ ६०१।
२. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास : भगवद्दत्त; प्रथम भाग, पृष्ठ १६२।

पहली बात : काल-गणना के प्रसंग में दृग्गोचर हुए नाना 'पाठान्तर' किसी बौद्धिक दुर्बलता के परिचायक नहीं हैं, बल्कि सांवत्सरिक गणना-वैचित्र्य के सूचक हैं। भारत में अनेक सांस्कृतिक धरोहरें पारिवारिक बल-बूते पर अक्षुण्ण एवं सुरक्षित रही हैं। जिस प्रकार संगीत-परम्परा का पालन कतिपय घरानों से जुड़ा हुआ है, उसी प्रकार आज से सैकड़ों वर्ष पहले कुछेक ब्राह्मण-परिवारों पर पुराण-सुरक्षा का दायित्व डाला गया था; सो समय-परिवर्तन के साथ-साथ सप्तर्षि-संवत् की गणना-शैली में एवं तद्विषय उपलब्धियों में परिवर्तन होता रहा और पुराण-पाठान्तरों का आविर्भाव अनायास होता रहा। जबतक भारत में सशक्त वेधशाला स्थापित नहीं होती, तबतक इन पाठान्तरों की रक्षा करना सांस्कृतिक उत्तरदायित्व में समझा जाएगा। बाद में, वेधशाला में बार-बार परीक्षा के पश्चात् सुष्टु पाठान्तर चमक जाएँगे और निराधार पाठान्तर मुरझा जाएंगे।

पाठान्तरों के समाधान खोजने से पहले दो बातों पर ध्यान केन्द्रित करना ज़रूरी है। (१) समस्त गणना-शैलियों का केन्द्र कलि-संवत्=०० है, क्योंकि भारत में गणनारंभ शून्य (००) से होता है; (२) भारत-संग्राम तथा श्रीकृष्ण-विग्रह-विसर्जनकाल में ३७ वर्षों का व्यवधान है; भारत-संग्राम तथा कलि-संवत् के मध्य ४७ वर्षों का व्यवधान है।

मान लो, एक पुराण-परिवार की यह मान्यता है कि कलि-संवत् -०० पर सप्तर्षि-संवत् का सातवाँ शतक (७००) समाप्त हुआ तो उससे ४७-वर्ष प्राग्, अर्थात् ७००–४७=६५३ सप्तर्षि-संवत् में भारत-संग्राम संभव है। अब इसमें भूल कहाँ है? विदित हो, महामति कल्हण की काल-गणना तथाकथित पौराणिक मान्यता के अनुरूप है।[१]

मान लो, अन्य पुराण-परिवार का यह कहना है कि कलि-संवत् २५ पर सप्तर्षि-संवत् का ११वाँ शतक समाप्त[२] हुआ, तब ४७+२५=७२ वर्षों की घटा-बढ़ी से संग्राम-काल का निर्णय आसानी से हो जाएगा; यथा—११००–७२=१०२८ में भारत-संग्राम हुआ; इसी प्रकार ३०७६+७२=३१४८ ईसवी पूर्व साल भी फलित हुआ। लक्ष्य करने की बात यह है कि 'स्कन्द पुराण' में यही काल-गणना अभीप्सित है।

मान लो, कोई पुराण-परिवार यह घोषणा करता है कि कलि-संवत् ३८ पर सप्तर्षि-संवत् का ११वाँ शतक समाप्त हुआ तो पूर्ववत् गणना-विनिमय करने पर, यथा—४७+३८=८५ वर्ष घटाने पर ११००–८५=१०१५ सप्तर्षि-संवत् में 'भारत-संग्राम' का होना सभी पुराणों में पाया जाता[३] है; और ३०६३ ईसवी पूर्व में ८५ वर्ष जमा करने पर=३१४८ का वही चमत्कार आलोकित होगा।

---

१. शतेषु षट्सु सार्धेषु त्र्यधिकेषु च भूतले।
कलेर्गतेषु वर्षाणामभूवन् कुरु-पाण्डवाः। —राज १।५१

२. कलेर्गतैः सायकनेत्रवर्षैः सप्तर्षिवर्याः त्रिदिवप्रयाताः। —काश्मीर रिपोर्ट

३. एतद् वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पंचदशोत्तरम्। —नाना पुराण-पाठ
सप्तर्षि-संवत् १०१४ के अन्त में भारत-संग्राम हुआ, संवत् १०१५ में परीक्षित् का जन्म।

इसी प्रकार १०१५, अथवा १०५०, अथवा १११५, अथवा १५१० अथवा २५०० विविध काल उपलब्धियाँ सप्तर्षि-संचार की नाना शैलियों की परिचायिका हैं। इन्हें भ्रष्ट प्रतिभा की उपज कहना सप्तर्षि-संवत् से परिचय-शून्यता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मज़े की बात यह है कि जब यूनानी-समाज का भारत में आना-जाना शुरू हुआ, तब भारत में 'सप्तर्षि-संवत्' का वर्चस्व बड़ी ऊँचाई पर था; यही कारण है, उन्हें 'सप्तर्षि-संवत्' अत्यन्त रुचिकर लगा और उसका सांस्कृतिक महत्त्व मानते हुए उन्होंने उसे उद्धृत किया। प्लिनी द्वारा संगृहीत 'सप्तर्षि-संवत्' की दोनों शैलियाँ राष्ट्रान्तरीय साक्ष्य के उत्तम उदाहरण का स्थान रखती हैं।

दूसरी बात : 'महाभारत-काल' तथा 'नन्द-काल' में कितना मध्यान्तर है? यह प्रश्न भी विकट विवाद का आधार बन गया है। लगता है—इस विवाद का कोई अन्त नहीं है, कोई समाधान नहीं है। कुछ लोगों की राय है कि यह 'विवाद' पुराण-पाठान्तरों के कारण अस्तित्व में आया है। ये विचार भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि विवाद के लिए इन पाठान्तरों का बहाना बना लिया गया है। हम किसी पाठान्तर-विशेष के प्रति निष्ठा-बद्ध नहीं हैं।

मान लो, 'भारत-संग्राम' तथा 'नन्द-काल' के मध्य ११५० वर्षों का (एतद् वर्ष सहस्रं तु शतं पंचाशदुत्तरम्) व्यवधान है। अद्यतनकाल तक हुए विचार-मन्थन के परिणामस्वरूप ज्ञात हुआ कि 'संग्रामकाल' तथा 'नन्दकाल' दो ध्रुवों में बँट चुका है। **चिन्तामणि विनायक वैद्य** की मान्यता है—महाभारत-संग्राम ३१०१ ईसवी पूर्व में हुआ।[1] अधिकांश चिन्तक वैद्य महाशय का अनुसरण करते दृष्टिगोचर हुए[2] हैं। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता राधा कुमुद मुखर्जी ने नन्दकाल ४१० ईसवी-पूर्व ही स्थिर माना[3] है। इतिहासकार-जगत् के लिए उक्त सिद्धान्त निर्विकल्प रूप से मान्य है। यहाँ पहुँचकर शोधार्थी को एक विकट प्रश्न से जूझना पड़ता है। वह प्रश्न है—इन ११५०—वर्षों को भारत-संग्रामकाल से जोड़कर, ऊपर से नीचे तक, गणना का उपक्रम करें अथवा ११५०-वर्ष नन्दकाल से जोड़कर, नीचे से ऊपर तक, गणना का उपक्रम करें? देखने में यह आया है कि इस प्रश्न पर भी शोधार्थिगण इन दो पंक्तियों में विभक्त हो गए हैं। एक पक्ष का कहना है: संग्राम-काल अर्थात् ३१०१ ईसवी-पूर्व में से ११५० वर्ष घटाने पर 'नन्द-काल' प्रतिफलित होगा; अर्थात् **३१०१–११५०=१९५१ ईसवी-पूर्व में 'नन्द-काल'** मानना गणना-संगत है। नन्द के पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य राजा बना, चन्द्रगुप्त मौर्य का पोता 'अशोकवर्धन' गद्दी पर बैठा, जिसके समय में यूनानी-समाज तथा भारतीय-समाज में खूब सांस्कृतिक घनिष्ठता स्थापित हुई, जिसकी ध्वनि अशोक के शिलालेखों से आज भी सुनी जा

---

१. महाभारत मीमांसा, पृष्ठ ८९ से १४० तक।

२. (क) वेदगीता : पं० जगन्नाथ शास्त्री, आमुख—गंगेश्वरानन्द, पृष्ठ २१२।

(ख) श्री विश्वविजयपञ्चाङ्गम् : संवत् २०३४, पृष्ठ १२, पंक्ति ४; श्रीकृष्ण संवत् ५०१३।

३. चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल : पृष्ठ ७०-७२।

सकती है। १९५१ ईसवी-पूर्व में नन्द का अस्तित्व माननेवाला पक्ष अशोक की राष्ट्रान्तरीय स्थिति व ख्याति से परिचित नहीं होगा—यह सोचा भी नहीं जा सकता। इस पक्ष ने सारी स्थिति का जायजा नहीं लिया मालूम पड़ता है। दूसरे पक्ष का कहना है: नन्दकाल अर्थात् ४१०ईसवी-पूर्व में ११५० वर्ष जोड़ने पर 'संग्राम-काल' हस्तगत होगा; अर्थात् ४१० + ११५० = **१५६० ईसवी पूर्व में 'संग्राम-काल'** मानना युक्ति-संगत है। नन्द-पूर्ववर्ती युग में श्रीकृष्ण का जन्म, उनकी लीलाएँ, गीतोपदेश तथा विग्रह-विसर्जन—सब घटनाएँ कलियुग के मध्य घटित मानने पर समस्त पौराणिक मान्यताएँ अविश्वस्त ज्ञात होती हैं। इस पक्ष ने पौराणिक परिशीलन किये विना अपना अभिमत प्रस्तावित किया मालूम पड़ता है। इन अलग-अलग धुरियों पर टिके हुए दोनों पक्षों में सामञ्जस्य की कल्पना कठिन ही नहीं, असंभव भी नज़र आती है। इनमें से एक 'निर्णय' पर खड़िया पोतनी ही होगी। इन दो पक्षों की तुलना उन दो किसान-कन्याओं की कहानी से की जा सकती है, जो विवाह के बाद अलग-अलग घरों में चली गई थीं। वह कहानी इस प्रकार है—"एक किसान की दो कन्याएँ थीं, एक कन्या तो विवाहानन्तर किसान के घर चली गई और दूसरी कन्या विवाह के पश्चात् कुम्हार के घर चली गई। चिरकाल पीछे कन्याओं का पिता पुत्रियों की खोज-खबर लेने के लिए उनके घर गया। किसान पहले उस पुत्री से मिलने गया जो कुम्हार के घर थी। 'पुत्रि! तुम्हारा क्या हाल है?'—पिता के पूछने पर कुम्हार-वधू ने कहा: "पिता! सब ठीक-ठाक है, घर में आनन्द-मंगलाचार है; वह देख! सामने मेघमाला उमड़ती चली आ रही है, आशीर्वाद दे—यह मेघमाला टल जाय, कारण आवा अभी कच्चा ही है; अगर मेघमाला बरस पड़ी तो सब बंटाढार हो जाएगा; बस तेरे आशीर्वाद की ज़रूरत है।" कुम्हार-वधू से मिल कर किसान पिता उस पुत्री से मिलने गया जो किसान के घर ब्याही गई थी। 'पुत्रि! तुम्हारा क्या हाल है?' पिता के पूछने पर किसान-वधू ने कहा: 'पिता! सब ठीक-ठाक है, घर में आनन्द-मंगल है; वह देख, सामने से मेघमाला उमड़ती चली आ रही है, आशीर्वाद दे—यह मेघमाला जमकर बरस जाय; बस, घर में अनाज-ही-अनाज हो जाएगा, सिर्फ तेरे आशीर्वाद की ज़रूरत है।' कन्याओं से मिल-मिलाकर घर लौटकर किसान ने अपनी पत्नी को रिपोर्ट दी कि "मेरे ही आशीर्वाद से दो कन्याओं में से 'एक' का कबाड़ा होने वाला है।" यही स्थिति अनुसन्धायक-समाज की है। अगर उसने यूनानी राजाओं के आलोक में अशोक से लेकर पूर्वोत्तर क्रम से "अशोक-बिन्दुसार-चन्द्रगुप्त-नन्द" इस वंश-परम्परा के अनुसार ४१० ईसवी-पूर्व में **'नन्द-काल'** को मान्यता दे दी, तो 'महाभारत' का समस्त कल्पना-जाल न केवल छू-मन्तर हो जाएगा, बल्कि सकल पौराणिक आस्थाएँ तिरोहित हो जाएँगी। अगर अनुसन्धायक-समाज ने भारतीय संस्कृति के विवेकहीन अनुयायियों की पीठ थपथपा दी और ३१०१ ईसवी-पूर्व में **'संग्राम-काल'** पर स्वीकृति की मुहर लगा दी, तो इतिहास का मनो-मोहक राजमहल देखते-देखते धराशायी हो जाएगा।

संग्राम-काल तथा नन्द-काल के मध्यान्तर समय के प्रश्न पर अभी रस्साकशी चल ही रही है। कुछेक विद्वान् ऐसे भी आ गए हैं, जो ४०-५० वर्षों के फेर-बदल से अथवा ४००-५०० वर्षों के उलट-पलट से तथाकथित समस्या का समाधान खोजना चाहते हैं; पर यह 'समाधान'

उनके बस का रोग नहीं है। पंजाब के ख्यातनामा स्कॉलर स्व० भगवद्दत्त बी० ए० ने १५०७ ईसवी-पूर्व में चन्द्रगुप्त मौर्य का अस्तित्व माना[1] है। डॉ० देवसहाय त्रिवेदी संग्राम-काल तथा नन्द-काल के मध्य १५०० वर्षों का व्यवधान तो मानते हैं; परन्तु वे यह नहीं बताते कि गिनती किधर से की जाय।[2] इस विवाद में पर्जीटर, शामशास्त्री, काशीप्रसाद जायसवाल, धीरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय आदि कोविदों ने सक्रिय भाग लिया[3] है। ये मत-मतान्तर परस्परविरोधी एवं विसंवादी होने से किसी भी सर्व-सम्मत निर्णय तक पहुँचाने में अशक्त हैं।

भारत-संग्राम तथा नन्द-काल में कितना मध्यान्तर है? यह प्रश्न पुराण-पाठान्तर की वजह से पैदा नहीं हुआ, बल्कि सप्तर्षि-संवत् के तिरोधान से पैदा हुआ है। सप्तर्षि-संवत् के उजागर होते ही पुराण-पाठान्तर की समस्या के साथ ही दो घटनाओं के मध्यान्तर-समय के विवाद आदि स्वतः समाहित हो जाएँगे—हमारा यह पक्का विश्वास है।

तीसरी बात : भारत-संग्राम कब हुआ? महाराजा नन्द कब हुए?—इन प्रश्नों पर पुराण-पाठ अधिकांशतः समाधायक नज़र आते हैं। जब भारत-संग्राम हुआ, तब सप्तर्षिगण मघा नक्षत्र[4] पर थे; और जब नन्दाभिषेक हुआ, तब भी सप्तर्षि मघा नक्षत्र[5] पर ही थे। मघा-नक्षत्र के चालू शतक में युधिष्ठिर के शासन पर प्रायः सभी का मतैक्य है। परन्तु 'नन्द-काल' के निश्चयन में पुराण-पाठों के प्रसंगत अर्थ का त्याग कर कदर्थित अर्थ का प्रस्ताव सामने आया है, जो आपत्ति-जनक है। यथाकथित अपौराणिक अर्थाधान में पहला दोष व्याकरण-संबंधी है। व्याकरण-नियमानुसार **'यत्तदोर्नित्यसंबन्धः'** यदा-और-तदा, यावत् और तावत्, जब-और-तब—इन शब्दों की सम्बन्ध-क्षमता पर अर्थ निर्धारित होता है। इसी संदर्भ में जब **'पहले पुराण-पाठ'** पर दृष्टि जाती है, तब उसमें देखते हैं दो बार **'यावत्'** सर्वनाम पठित हैं; जिसके अनुसार 'जब परीक्षित् का जन्म हुआ' तथा 'जब नन्द का अभिषेक हुआ'—अर्थ पर विचार करते समय विविक्षा रह जाती है—तब? विदित हो, 'यावत्' के वज़न पर 'तावत्' सर्वनाम चाहिए था, जो नहीं है; उसके बदले 'एतत्' सर्वनाम है, जो संज्ञा के साथ सम्पृक्त होने से सार्वनामा विशेषण बन गया है, परिणामस्वरूप 'यावत्' की विविक्षा ज्यों-की-त्यों कायम है। 'एतत्' सर्वनाम साकांक्ष सर्वनाम 'यावत्' के साथ एक-सा संबध जोड़ता है:

क. यावत् परिक्षितो जन्म, (तावत्) एतद्वर्ष सहस्रं तु ज्ञेयं पंचदशोत्तरम्।

ख. यावन्नन्दाभिषेचनम्, (तावत्) एतद्वर्ष सहस्रं तु ज्ञेयं पंचदशोत्तरम्॥

अतः श्लोक की दूसरी पंक्ति मध्यान्तर समय की सूचक नहीं है, बल्कि दोनों घटनाओं के एकमेव समय की द्योतक है, जो केवल सप्तर्षि-संवत् में ही संभव है, अन्यत्र नहीं। इसी प्रकार

---

१. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास : द्वितीय भाग, पृष्ठ ७०-७२।

२. हिन्दुस्तानी पत्रिका : १७।१, जनवरी-मार्च ४७, पृष्ठ ६५।

३. वही, पृष्ठ ६५-७४।

४. आसन् मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ।

५. यदा मघाभ्यो यास्यन्ति (...दूसरा पाठ)।

'दूसरे पुराण-पाठ' में यदा-तदा के अतिरिक्त एक अन्य पहलू पर भी विचार करने की जरूरत है। पुराण-पाठ में 'नन्द' और 'मघा'—दोनों पञ्चम्यन्त रूप हैं, अतः अपादान-मूलक अन्वय से (यदा मघाभ्यः, तदा नन्दात्) ही शब्दों के ठीक-ठीक अर्थ प्रकाशित होंगे, अन्यथा नहीं। इस कसौटी पर 'जब मघा से' 'तब नन्द से'—यही अर्थ खरा उतरता दृग्गोचर हुआ है, दूसरा नहीं।

दूसरे पुराण-पाठ में सप्तर्षियों की 'पर्याय' और 'विपर्याय' गति मानने का प्रसंग है, जो दोषपूर्ण है। प्रायः सभी पुराणों में महर्षियों की पर्याय गति घोषित है।[1] जाने क्यों, दिवंगत भगवद्दत्त ने तथा देवसहाय त्रिवेद ने सप्तर्षियों को विपर्याय (विलोम) गति माना है? मघा नक्षत्र से अनुक्रमशः ११ वाँ नक्षत्र पूर्वाषाढा है; मघानन्तर तथा प्राक्-पूर्वाषाढ़, बीच में ९-नक्षत्र पड़ते हैं; इसके विपरीत मघा नक्षत्र से प्रतिक्रमशः गणना करने पर १८ वाँ नक्षत्र पूर्वाषाढा है; प्राङ्मघानक्षत्र तथा पूर्वाषाढानन्तर, १६-नक्षत्र बीच में पड़ते हैं। सप्तर्षियों को पर्याय-धर्म से मानने पर 'संग्राम-काल' तथा 'नन्द-काल' का मध्यान्तर-काल ९०० वर्ष सिद्ध होता है, जो सर्वथा तर्कों से दूर, बुद्धि-अगोचर तथा प्रमाण-शून्य (शास्त्रीय प्रमाण) होने से प्रतिपक्षियों को अनुकूल तथा स्वार्थ-साधक नहीं जँचा; सप्तर्षियों को विपर्याय-धर्म से मानने पर 'संग्राम-काल' तथा 'नन्द-काल' के मध्य १६०० वर्षों के व्यवधान की परिकल्पना ९०० वर्षीय व्यवधान की अपेक्षा वहुत कुछ संतोषजनक थी; अतः शास्त्र-विपरीत होने पर भी नवीन मान्यता को उछाल कर वे सज्जन मैदान में उतर आए, जो अपने-आप को अधिकृत काल-विज्ञानी मानते थे। दुष्कल्पना की नाजुक शाख पर बना आशियाना कबतक अपनी खैर मनाएगा। 'संग्राम-काल' तथा 'नन्द-काल' के मध्य ९०० वर्षों का 'व्यवधान नहीं है और वह व्यवधान १६०० वर्ष भी नहीं है। सप्तर्षियों का अनुलोमगति मानने पर, यावत्-और-तावत् एवं यदा-और-तदा के संतुलन पर **'संग्राम-काल' तथा 'नन्द-काल' के मध्य २७१८ वर्षों का व्यवधान** है; संग्राम-काल ३१४८ ईसवी-पूर्व है, उससे २७१८ वर्ष-पश्चात् ४३० ईसवी-पूर्व में नन्दकाल मानना न केवल पुराण-पाठों के सामञ्जस्य की स्थापना है; बल्कि पुराणों तथा इतिहास के प्रख्यात तथ्यों की सुरक्षा की अचूक गारंटी भी है।

चौथी बात : भारत-संग्राम का वर्ष कौन-सा है? क्या ३१०१ ईसवी-पूर्व है, जैसा कि चिन्तामणि विनायक वैद्य मानते हैं; अथवा ३१३७ ईसवी-पूर्व है, जैसा कि दिवंगत भगवद्दत्त मानते हैं; अथवा ३१४८ ईसवी-पूर्व है, जैसी कि नए अनुसन्धान की नई उपलब्धि है। इन वैकल्पिक समाधानों में से एक का चुनाव भगवान् श्रीकृष्ण के विग्रह-विसर्जन के तिथि-निर्णय पर निर्भर करता है।

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य का कहना है: "समस्त आर्य ज्योतिषियों के मतानुसार कलियुग ईसवी सन् के पहले ३१०१ वर्ष में लगा। इससे भारतीय युद्ध का समय ईसवी सन्

---

१. (क) पर्याय योगात्
 (ख) कालः पर्यायधर्मेण —शान्ति पर्व ३४।४
 (ग) सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पर्यायेण शतं शतम्। —वायु ४०।४१९

के पहले ३१०१ वर्ष निश्चित हो जाता है। यही मत सब को ग्राह्य मालूम पड़ता है"। उन्होंने आगे चलकर फिर लिखा: "सभी प्रमाणों का विचार करने पर भारती युद्ध का जो समय मेगास्थनीज़ के प्रमाण से और शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से निश्चित होता है, उसी को अर्थात् सन् ईसवी के पहले ३१०१ वर्ष को ही मान्य समझना चाहिए।"[1] महान् विचारक चिन्तामणि विनायक वैद्य ने यह उपर्युक्त निर्णय लेते हुए श्रीकृष्ण के धरा-धाम-परित्याग पर विचार नहीं किया होगा—ऐसा मानने का कोई आधार सामने नहीं है। उनका विचार है —"यह निश्चित हो चुका है कि चन्द्रगुप्त का समय ईसवी सन् के पूर्व ३१२ वर्ष था। इस हिसाब से श्रीकृष्ण का समय सन् ईसवी के ३०३२ [?] वर्ष पहले निश्चित होता है।"[2] यहाँ गणना में चूक हो गई लगती है। महाभारत के अन्तःसाक्ष्य से ज्ञात होता है कि भारत-संग्राम श्रीकृष्ण के देह-त्याग के मध्य ३६-३७ वर्षों का व्यवधान है। सो, ३१०१–३६=३०६५ **ईसवी-पूर्व** में भगवान् श्रीकृष्ण का निधन विचारणीय विषय बन सकता है। हम कुछ समय के लिए मान लेते हैं कि श्रीकृष्ण का निधन ३०६५ ईसवी-पूर्व में हुआ होगा—इस अवस्था में उस पुराण-पाठ का ग्राह्य अर्थ क्या होगा, जिससे ज्ञात होता है: "जिस दिन श्रीकृष्ण स्वधाम सिधारे, उसी दिन कलियुग का आगमन हुआ।"[3] यथाकथित पुराण-पाठ को समक्ष रखकर या तो यह निर्णय करें—यह श्लोक मिथ्या है अथवा प्रक्षिप्त है; या यह निर्णय करें—भारत-संग्राम ३१३८ ईसवी-पूर्व में हुआ। इस विकल्प में से 'एक' के चुनाव करने के सिवाय निकल भागने का कोई रास्ता नहीं। हमारी चुनौती बड़ी जटिल है, जो चिन्तामणि विनायक वैद्य के अनुयायियों को स्वीकार करते ही बनेगा।

पाँचवीं बात : चूँकि कलियुग के किसी भी वर्ष में भगवान् श्रीकृष्ण का दिवङ्गमन स्वीकार्य नहीं है, अतः ३१०१ ईसवी-पूर्व में संग्राम-संभावना की बात पर विचार किया ही नहीं जा सकता। शेष रहा एक विकल्प—भारत-संग्राम के लिए ३१३८ ईसवी-पूर्व अथवा ३१४८ ईसवी-पूर्व में से एक वर्ष चुन लें।

श्रीमद्भागवत पुराण का कथन है: भगवान् श्रीकृष्ण ने भानु नामक[4] वर्ष में देह का विसर्जन किया। भगवान् विष्णु की सहस्र-नामावलि में 'भानु' नाम स्मृत[5] है। स्मरण रहे, जब कलिसंवत् ०० था, तब षष्टि-संवत्सरों में से 'नन्दन' संवत्सर[6] प्रवर्तमान था। अर्थात्

---

१. महाभारत मीमांसा : पृष्ठ १४०।

२. वही, पृष्ठ ९१ (३१२+२७६०=३०७२ ई० पू० होना चाहिए)।

३. यस्मिन् कृष्णो दिवं यातः (तीसरा पुराण-पाठ)।

४. विष्णोः भगवतो भानुः कृष्णाख्योऽसौ दिवंगतः। —भागवत १२।२।२९

५. अमृतांशूद् भवो भानुः शशबिन्दुः सुरेश्वरः।
औषधं जगतः सेतुः सत्य-धर्म-पराक्रमः॥ —श्लोक ४४

६. इसका चित्र इस प्रकार होगा—

(क) चित्र भानु=१० कलिपूर्व, (ख) सुभानु=९ कलिपूर्व, (ग) तारण=८ कलिपूर्व; (घ) पार्थिव =७ कलिपूर्व, (ङ) व्यय =६ कलिपूर्व, (च) सर्वजित =५

कलि-आरंभ से ९-१० वर्ष-प्राक् भगवान् श्रीकृष्ण का विग्रह-विसर्जन भागवत-प्रतिपादित है। अतः ३१११ ईसवी-पूर्व में श्रीकृष्ण के परम-धाम-गमन से ३७ वर्ष पहले भारती-संग्राम की बात ठीक हो सकती है। वह वर्ष ३१११+३७=३१४८ **ईसवी पूर्व** ही था—यह सर्व-शास्त्र-मन्थनोत्थित निष्कर्ष है। फिर उस पुराण-पाठ का क्या होगा? जिसके अनुसार कलियुग का आगमन एवं श्रीकृष्ण का परमधाम-गमन एक ही दिन में हुआ। एतदर्थ निवेदन है कि महाभारत-ग्रन्थ[1] में दिव्य काल-गणना के संकेत मिल जाते हैं। काल-गणना दो प्रकार से गिनी जाती है—१. सौर-गणना और २. नाक्षत्र करना; पुनः सौर-गणना तीन पद्धतियों में विभक्त हो जाती है—१. ब्राह्म-वर्ष, २. वैष्णव-वर्ष तथा ३. शैव-वर्ष। निश्चयपूर्वक वैष्णव अवतार भगवान श्रीकृष्ण की चर्चा में वैष्णव-वर्ष की काल-गणना उपादेय रहेगी। इतनी सूक्ष्म एवं जटिल काल-गणना में केवल अनुमान का ही सहारा लिया जा सकता है; शास्त्रीय अवलम्बन में विस्तार की संभावना भी अपेक्षित रहती है। अतः अनुमान के अनुसार—

१८ सौर वर्ष = १ काष्ठा;
५ काष्ठा = १ निमेष; [१८×५=९०]
१० निमेष = १ कला; [×१०=९००]
१५ कला = १ मुहूर्त; [×१५=१३,५००]
[एक कला अतिरिक्त+ ९००=१४,४००]
३० मुहूर्त =१ अहोरात्र [× ३०=४,३२,००० **सौर वर्ष**]

विदित हो, ४ लाख ३२ हज़ार वर्ष कलियुग की निर्धारित आयु है। यह दिव्य वैष्णव गणना के अनुसार एक दिन के बराबर है। यदि शून्य-शून्य छोड़ दिए जायँ तो ४३२ का परस्पर योग करने पर ४+३+२=९ सौर वर्ष आधी काष्ठा के बराबर हुए। ३१०२ ईसवीपूर्व वर्ष में ९ वर्ष जमा करने पर ३१०२+९=३१११ **ईसवीपूर्व** अर्थात् कलि आरंभ होने से आधा क्षण [½] पहले भगवान् श्रीकृष्ण अपने धाम चले गए।

प्रस्तावित नवाधिक सौर-गणना का सूत्र विष्णुधर्मोत्तर[2] पुराण में भी मिल जाता है।

कलिपूर्व; (छ) सर्वधारी=४ कलिपूर्व, (ज) विरोधी=३ कलिपूर्व (झ) विकृत=२ कलिपूर्व; (ञ) खर=१ कलिपूर्व और (ट) नन्दन=०० कलिसंवत्।

नन्दन का क्रमांक २६ है, इसमें कलि-संवत् जोड़ कर ६० पर भाग देने से वर्तमान वर्ष ३=शुक्ल संवत्सर प्रतिफलित होगा। वर्तमान कलि-संवत् ५०७७, विक्रम-संवत् २०३३।

१. काष्ठा निमेषा दश पंच चैव त्रिंशन्तु काष्ठां गणयेत् कलां ताम्।
त्रिंशत् कलाश्चापि भवेत्मुहूर्तः (भागः कलायाः दशमश्च यः स्यात्)।
त्रिंशन्मुहूर्तं तु भवेदहश्च रात्रिश्च संख्या मुनिभिः प्रणीता।
—महाभारत, शान्तिपर्व २२१।१२-१३

२. अद्य प्रभृति राजेन्द्र समाः पंचाशके गते। परिक्षिति महाराजे दिवं प्राप्ते कुरूद्वहे।
८०।५-१०

उस पुराण के अनुसार सप्तर्षि-संवत् ६१ में हुए वज्र-मार्कण्डेय के अद्भुत वार्तालाप का प्रसंग है। वज्र ने मार्कण्डेय से पूछा—'महर्षे! मैं कितना समय पृथिवी पर शासन करूँगा?' उत्तर में महर्षि ने कहा: 'आज सप्तर्षि-संवत् ६१ है, भगवान् श्रीकृष्ण को दिव्य-धाम गए हुए १० वर्ष बीत गए हैं।[१] राजा परीक्षित् ५०-वर्ष अभी और शासन करेगा; जब उसका देहान्त होगा, तब तू भी स्वर्ग चला जाएगा।' इत्यादि। आओ, गणना करें—

(१) भारत-संग्राम=सप्तर्षि-संवत् १०१४
(२) परीक्षित्-जन्म[२]=सप्तर्षि-संवत् १०१५ } =३१४८ ईसवीपूर्व

(३) युधिष्ठिर-शासन[३] =सप्तर्षि-संवत् १०५१=३१११ ईसवीपूर्व

श्रीकृष्ण का तनु त्याग=सप्तर्षि-संवत् ५१=३१११ ईसवीपूर्व तथा

(४) कलियुगारंभ ००=सप्तर्षि-संवत् १०६१=३१०१ ईसवीपूर्व।

महाभारत-विज्ञ जानते हैं कि परीक्षित् ने ६० वर्ष शासन किया। १० वर्ष द्वापर-युग में तथा ५०-वर्ष कलियुग में परीक्षित् का शासन शास्त्र-सम्मत[४] है।

इस प्रासंगिक समाधान से एवं वैष्णव काल-गणना से यही निष्कर्ष मिला कि 'पुराण-पाठ' का स्थूल अर्थ अपौराणिक है तथा ऐतिहासिक मान्यता के विपरीत है।

अन्तिम बात: हम पहले प्रतिपादित कर आए हैं कि 'पुराण-ग्रन्थों में इतिहास-तत्त्व भी यत्र-तत्र सन्निविष्ट हैं।' कुछ कठोर आलोचकों का कहना है कि पुराणों में ये इतिहास-बोधक संदर्भ सब-के-सब प्रक्षिप्त हैं; वे न केवल अविश्वसनीय हैं, बल्कि सर्वथा अनुपादेय भी हैं। हम इन आलोचकों के मन्तव्य का प्रतिषेध तो नहीं कर रहे, परन्तु इतना कहे बिना भी नहीं रहेंगे कि पुराण-ग्रन्थों के ये ऐतिह्य संदर्भ किसी विधान एवं निश्चित रूपरेखा के अन्तर्गत प्रक्षिप्त हुए हैं; यूँ ही ऊल-जलूल प्रक्षिप्त नहीं हैं। हमारी स्थापना के ज्वलन्त प्रमाण पहला और दूसरा पुराण-पाठ हैं, जिनकी चर्चा इन पंक्तियों में हो चुकी है और हो रही है।

पहले पुराण-पाठ से संभाव्य 'संग्राम-और-नन्द' के मध्यान्तर काल का समाधान तो है ही, साथ ही पुराणों में पाए जाने वाले इतिहास की सीमाएँ भी प्रतिपादित हैं। विदित हो, पुराणान्तर्गत इतिहास दो प्रकार का है—(१) समग्र इतिहास और (२) परिशिष्ट इतिहास।

---

१. वाताश्वमेघवर्षेऽस्मिन् सह यक्षेण यादव। —अध्याय ८०।५-१०

वात + अश्व + मेघ + यक्ष
४८ + ७ + ४ + १ } =६१वें वर्ष में

२. यावत् परीक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्।
एतत् वर्ष सहस्रं तु ज्ञेयं पंच दशोत्तरम्॥ —नाना पुराण पाठ

३. षट्त्रिंशे त्वथ संप्राप्ते वर्षे कौरवनन्दनः।
ददर्श विपरीतानि निमित्तानि युधिष्ठिरः॥ —मौसल पर्व २।२

४. इमाः प्रजाः तव पिता षष्टि-वर्षाण्यपालयत्।
ततो दिष्टान्तमापन्नः सर्वेषां दुःखमावहन्॥ —आदिपर्व ४९।१७

समग्र इतिहास की ऊर्ध्ववर्ती सीमा है : संग्रामकाल, ३१४८ ईसवीपूर्व साल; उसकी निम्नवर्ती सीमा है : नन्दकाल, ४३० ईसवीपूर्व साल; अर्थात् पूरा एक सप्तर्षि-चक्र=२७०० वर्ष, २७१८ सौर-वर्ष; अर्थात् महाभारत-काल से लेकर नन्दोदय तक का इतिहास समग्र-भाव से परिगणित है। परिशिष्ट इतिहास की ऊर्ध्ववर्ती सीमा है : आन्ध्रों का उदय[1], ३४५ ईसवीपूर्व साल; उसकी निम्नवर्ती सीमा है : पुलकेशिन् काल, ५६१ ईसवी साल; अर्थात् एक सप्तर्षिचक्र का तीसरा भाग (१/३)=९०० वर्ष, ९०६ सौर-वर्ष; अर्थात् आन्ध्रों के उदय से लेकर गुप्तों के अवसान काल तक का इतिहास परिशिष्ट-भाव से संकलित है। यह अधिसूचना दूसरे पुराण-पाठ से मिलती है। वैसे—

(१) समग्र इतिहास : वायुपुराण, विष्णुपुराण, मत्स्यपुराण, ब्रह्माण्डपुराण के अतिरिक्त स्कन्दपुराण; तथा

(२) परिशिष्ट इतिहास : वायुपुराण, विष्णुपुराण, मत्स्यपुराण तथा ब्रह्माण्ड-पुराण के अतिरिक्त भागवतपुराण—

सभी पुराण समान-भाव से इतिहास के प्रतिपादक नज़र आते हैं; परन्तु स्कन्दपुराण में परिशिष्ट इतिहास नहीं है और भागवतपुराण में समग्र इतिहास नहीं है—इस प्रकार पुराणों के वर्गीकरण से सन्निविष्ट इतिहास के पृथक्करण को आधार मिल गया है, जो दूसरे पुराण-पाठ के पौराणिक अर्थ से अधिक-से-अधिक स्पष्ट हो गया[2] है।

समग्र इतिहास में परीक्षित्-वंश तथा बृहद्रथ-वंश का इतिहास है, अंतिम वंश का शासन समय-निर्देश के साथ है।

परिशिष्ट इतिहास में आन्ध्रवंश, गर्दभिल्लवंश, शकवंश गुप्तवंश का ऐतिहासिक[3] संकेत है। प्रथम वंश का इतिहास समय-निर्देश के साथ है।

वैसे तो पुराणान्तर्गत अनेक पाठ-पाठान्तर ऐसे हैं, जिन पर पर्याप्त प्रकाश डालने की अपेक्षा है; परन्तु हमने केवल तीन पुराण-पाठों को समक्ष रखा है, जिनका सम्बन्ध पौराणिक मान्यताओं को उजागर करना तो है ही, इतिहास की परस्पर सटी हुई कड़ियों को मिलाना भी है।

---

१. सप्तर्षयस्तदा प्राप्ताः पित्र्ये पारिक्षिते शतम्।
सप्तविंशति शतैः भाव्या आन्ध्रणां तेऽन्वयाः पुनः॥ —ब्रह्माण्डपुराण

२. सप्तसिन्धु चण्डीगढ़ : नवम्बर ७६, पृष्ठ १-१३।

३. (क) शतानि त्रीण्यशीतिं च भोक्ष्यन्ति वसुधां शकाः। —वायु ९९।३।३६१
(३२ ईसवी से लेकर ४१२ ईसवी तक)

(ख) सप्तगर्दभिल्लाः भूयो भोक्ष्यन्ती मां वसुन्धराम्। —मत्स्य २७२।२०
(९४ ईसवीपूर्व साल से लेकर ३१ ईसवी तक)

(ग) एतान् जनपदान् सर्वानु भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः। —वायु ९९।३।३८३
(३०७ ईसवी से लेकर ५६१ ईसवी तक)

ये तीनों पुराण-पाठ एक दूसरे के प्रकाशक, रक्षक, पूरक तथा स्वतः अनेकार्थ हैं; अतः इनकी व्याख्या कर दी है।

निष्कर्ष

यथाकथित पुराण-पाठों के पारायण से ज्ञात हुआ कि इनके परस्पर-गुम्फित अनेक अर्थ-सूत्र संग्रहणीय हैं; यथा—

१. सप्तर्षि-संवत् के सम्यग्बोध के बिना इन पुराण-पाठों की संगति लगाना बड़ा जटिल कार्य होगा। सप्तर्षिगण पर्यायगति से भ्रमण करते हैं, विपर्याय गति से नहीं।

२. पाठान्तरों का आविर्भाव अज्ञानमूलक नहीं है, बल्कि पुराण-परिवारों की विविध गणना-शैलियों के परिणामस्वरूप हुआ है; अतः उनकी उपयोगिता स्वतः सिद्ध है।

३. संग्राम-काल तथा नन्दकाल का मध्यवर्ती समय विवाद का विषय नहीं है, बल्कि पुराण-सन्निविष्ट समग्र इतिहास भाग की ऊर्ध्ववर्ती तथा निम्नवर्ती सीमाओं का परिचायक है।

४. महाभारत-संग्राम ३१४८ ईसवीपूर्व में हुआ।

५. नन्दयुग में सप्तर्षियों के मघाशतक के बाद का समय भी विवाद का विषय नहीं है, बल्कि पुराण-सन्निविष्ट परिशिष्ट इतिहास-भाग की ऊर्ध्ववर्ती तथा निम्नवर्ती सीमाओं का परिचायक है।

६. भगवान् श्रीकृष्ण का निधन ३१११ ईसवीपूर्व साल में हुआ।

७. नन्द ४३० ईसवीपूर्व साल में हुआ : चन्द्रगुप्त मौर्य ३४२ ईसवीपूर्व साल में हुआ।

८. पुराण तथा इतिहास की सीमाओं के स्पष्टीकरण के लिए ये पुराण-पाठ परम उपयोगी हैं।

—ए-१०, अमर कालोनी
लाजपत नगर
नई दिल्ली—२४

राउलवेल की भाषा

डॉ० पारसनाथ तिवारी

'राउलवेल' की भाषा की समस्या बहुत उलझी हुई है। इसके सम्पादक स्व० डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने रचना में प्रयुक्त लगभग २०० शब्दों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन कर यह देखने का प्रयास किया है कि तत्कालीन अपभ्रंश और बोलचाल में वे किन-किन क्षेत्रों की भाषाओं में पाए जाते हैं। इस कार्य में उन्होंने तीन विद्वानों की अपभ्रंश सम्बन्धी शोधों से सहायता ली है—एक तो डॉ० तगारे के 'हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश' से जिसमें पश्चिमी, दक्षिणी तथा पूर्वी अपभ्रंशों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, दूसरे डॉ० भायाणी के 'सन्देशरासक' की भूमिका से जिसमें उन्होंने उत्तरी अपभ्रंश की रूपरेखा निर्धारित की है और तीसरे डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी के 'उक्तिव्यक्ति प्रकरण' की भूमिका से जिसमें उन्होंने पुरानी कोसली का अध्ययन प्रस्तुत किया है।

तुलनात्मक अध्ययन के परिणामस्वरूप डॉ० गुप्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि २०० शब्द-रूपों में पश्चिमी अपभ्रंश के १०९ रूप और मध्यपूर्वी अपभ्रंश के १११ रूप हैं; अर्थात् रचना में सर्वाधिक बाहुल्य पश्चिमी तथा मध्यपूर्वी रूपों का है। इसके विभिन्न अशों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण करने के पश्चात् भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है, किन्तु गुप्तजी के आँकड़ों के अनुसार इस दृष्टि से कुल ३७४ शब्दरूपों में पश्चिमी अपभ्रंश के २४३ रूप तथा मध्यपूर्वी अपभ्रंश के २३७ रूप निकलते हैं। पश्चिमी रूपों के बाहुल्य का कारण उन्होंने यह मान लिया है कि उस समय तक वह एक सर्वमान्य साहित्यिक भाषा स्वीकृत हो चुकी थी किन्तु मध्यपूर्वी अपभ्रंश का प्रवेश साहित्यिक क्षेत्र में नहीं हो सका था, और वह केवल औक्तिक या बोलचाल की भाषा मात्र थी। इससे डॉ० गुप्त इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रचना मध्यपूर्व के किसी क्षेत्र में की गई थी और वहीं की भाषा को रचना की सामान्य भाषा के रूप में ग्रहण किया गया—केवल रोचकता लाने के लिए विभिन्न नायिकाओं की प्रादेशिकता के अनुसार तत्तत् प्रदेशों की बोली के तत्त्व भी समाविष्ट कर दिए गए। डॉ० गुप्त के अनुसार कवि ने गोल्लों, कानोड़ों, टेल्लों आदि का तिरस्कारपूर्ण चित्रण किया है जिससे ज्ञात होता है कि रचना का स्थान इन क्षेत्रों से मिलता हुआ कोई स्थान होना चाहिए और वह दक्षिण कोसल सिद्ध होता है। इसलिए उन्होंने रचना की आधारभूत भाषा को दक्षिण कोसली सिद्ध किया है। उनका कहना है कि "रचना का आदि-अन्त दक्षिण कोसली में है और नखशिखों में क्रमशः पश्चिमी हिन्दी, मराठी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी अथवा गुजराती, टक्की, गौड़ी तथा मालवी के तत्त्व हैं, यही रचना का सप्तभाषात्मक रूप है जिसकी ओर उसके रचयिता ने (सा) तहं भासहं जइसी जांणी (४६) कह कर संकेत किया है।" (पृ० ८४)

किन्तु इस सम्बन्ध में डॉ० गुप्त के मत मान्य नहीं प्रतीत होते। भौगोलिक उल्लेखों से उन्होंने रचना के स्थान का जो निर्णय किया है उसका समाधान डॉ० हरीश शर्मा ने[१] दिया था जिसका यहाँ संक्षिप्त उल्लेख कर देना असंगत न होगा। गोल्ल, टेल्ल, कानोड़ का प्रयोग डॉ० गुप्त ने जिन अर्थों में समझा है उससे भिन्न अर्थों में भी इनका प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए गोला और टेला राजस्थान तथा मालवा में दास अथवा सेवक के भी बोधक शब्द हैं। इनका सम्बन्ध किसी-न-किसी प्रकार सामन्त या राजघरानों से होता है। जागीरदार की पत्नी या रानी की सेवा करने वाली दासियों को वहाँ गोली कहा जाता है। कानोड़ उदयपुर राज्य का एक छोटा कस्बा है जहाँ के निवासी भी कानोड़ कहे जाते हैं। पश्चिमी राजस्थान, मालवा और गुजरात में गौड़ राजपूत और ब्राह्मणों की शाखाएँ बहुत प्राचीन काल से ही विद्यमान थीं और पत्थर खोदने या तोड़ने वाली जंगली जाति को राजस्थान में ओड कहा जाता है। इनमें से अधिकांश स्पष्टतया निम्न वर्ग के लोग हैं जिनके लिए किसी सुन्दरी को देख कर झंखना अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। अतः असंभव नहीं कि कवि रोड ने 'राउलवेल' में इन्हें ही स्थान-स्थान पर हीन कह कर वहाँ की नायिकाओं के सौन्दर्य और वेश-परिवेश के लिए झंखता हुआ बतलाया है।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि कवि ने मालवीया नायिकाओं का नखशिखपूर्ण संभार एवं सजधज के साथ लिखा। डॉ० गुप्त स्वयं मानते हैं कि "रचयिता की असाधारण सहानुभूति ही नहीं एक प्रकार से उसका पक्षपात भी मालवी नायिकाओं के साथ है जिनका नखशिख वह सबसे अधिक बढ़ा-चढ़ा कर शिलाखण्ड की १८ पक्तियों में करता है जबकि शेष प्रदेशों की नायिकाओं के नखशिखों का औसत उसके तिहाई से भी कम पक्तियों में है।" (पृ० ८४) हम देखते हैं कि दक्षिण कोसल की किसी नायिका का नखशिख उसने नहीं लिखा। यह बात उतनी ही आश्चर्यजनक है जितनी यह कि उसके आश्रयदाता ने दूर देशों की स्त्रियों से तो विवाह किए किन्तु अपने प्रदेश दक्षिण कोसल की किसी रमणी को इसका सौभाग्य नहीं प्राप्त होने दिया।

तीसरी बात यह है कि 'राउलवेल' का नायक कोई गौड़ सामन्त बतलाया गया है। गौड़ राजपूतों का मालवा से पर्याप्त सम्बन्ध रहा है और उनकी शाखाएँ आज भी पश्चिमी राजस्थान, मालवा और गुजरात में मिल जाती हैं। इसलिए कृति के नायक का सम्बन्ध दक्षिण कोसल के कलचुरि वंश के किसी सामन्त से हो, इसकी सम्भावना कम जान पड़ती है।

चौथी बात यह है कि रोड नाम का प्रचलन राजस्थान या मालवा की ओर अधिक था। वहाँ रोड, कजोड़ और करोड़ ये तीनों नाम बहुत रखे जाते हैं। रोड़ और कजोड़ कूड़े-कचड़े को कहते हैं तथा करोड़ पैसे टके वाले को कहते हैं। जहाँ कूड़ा डाला जाता है उस स्थान को रोड़ी कहते हैं। जिसकी सन्तान जीवित नहीं रहती वह अनिष्ट निवारण के लिए अपने पुत्र

---

१. दे० सम्मेलन पत्रिका, भाग ५१, संख्या ३-४ में "राउलवेल या राजकुलविलास" शीर्षक निबंध।

का नाम रोड़ रख देता है जैसे उत्तर प्रदेश में घुरहू-पवारू आदि नाम रखे जाते हैं। अतः रोड नाम राजस्थान, मालवा, गुजरात के लिए चिरपरिचित है। राजस्थान में इसी नाम के एक अन्य कवि भी मिलते हैं जिन्होंने 'ऋषभदेव के छन्द' की रचना की थी।

डॉ० गुप्त जी ने रचना की भाषा का जो सप्तभाषात्मक रूप बतलाया है वह भी निराधार है। शिलालेख के अन्तिम अंश में "(...)तहं भासहं जइसी जाणी" पंक्ति मिलती है जिसके प्रथम खण्डित अक्षर के स्थान पर उन्होंने 'सा' जोड़ कर पूरे शब्द को 'सातहं' बना दिया है। किन्तु प्रश्न यह है कि उसे 'सातहं' ही क्यों माना जाय ? 'जेतहं', 'जातहं' या 'तेतहं' क्यों न माना जाय ? "जेतहं भासहं जइसी जाणी" का अर्थ होगा : जितनी भाषाएँ जैसी उसकी जानी हैं। कारण यह है कि जिस समय की यह रचना है तब से लेकर जायसी के कुछ पहले कुतुबन तक अनेक कवियों ने षड्भाषा परंपरा का उल्लेख अनेक बार किया है जबकि सप्तभाषा कल्पना विरल ही है। चंद बरदायी ने कहा है—"षड्भाषा पुराणं च कुराणं च यथामतम्।" 'षड्भाषा चन्द्रिका' आदि ग्रंथों की रचना इसी मान्यता के आधार पर हुई है। इतना अवश्य है कि समय-समय पर छह भाषाओं के नाम और उनके सापेक्षिक महत्त्व में परिवर्तन होता रहा किन्तु कबीर आदि हिन्दी के सभी प्राचीन कवियों की रचनाओं में छह भाषाओं के रूप सरलता से ढूँढ़े जा सकते हैं। १००० ई० से लेकर लगभग ५०० वर्षों तक मध्यदेश या राजस्थान आदि में षड्-भाषा कल्पना का प्रभुत्व रहा और फिर डिंगल, पिंगल, अवधी आदि का प्राधान्य समयानुसार होता रहा। 'राउलवेल' में छह नखशिख छह प्रदेश की नायिकाओं के हैं जिन्हें प्रकारान्तर से तत्कालीन छह प्रमुख भाषाओं का भी नखशिख माना जा सकता है।[1] यह भी कल्पना निराधार नहीं कही जा सकती कि नायिकाओं का नखशिख तो केवल व्याजमात्र है—कवि का मूल उद्देश्य अपना भाषा ज्ञान प्रदर्शित करना ही जान पड़ता है। उदाहरण के लिए जब वह टक्किनी का वर्णन करने लगता है तो उसका लहजा पंजाबी में बदल जाता है—'वेहु एक्कु सो एथ वन्निज्जइ। जो अक्खंदहं ही आ भिज्जइ।' ये सभी शब्द प्राचीन पंजाबी के हैं। इसी प्रकार अड्डा, केह, पाहु, लद्धा, दित्ता, गन्न, एहा, तेहा सभी उस क्षेत्र के ठेठ प्रयोग हैं। खेद है कि इनमें से अधिकांश की ठीक पहचान भी गुप्त जी नहीं कर पाए हैं; उदाहरणतया वेहु, अड्डा, केह, पाहु, दीहा को वे क्रमशः देखो, विपत्ति, का (सम्बन्धवाचक) पाँव और दिन (दिवस) का बोधक मानते हैं जिससे अर्थ का अपकर्ष हुआ है। 'अड्डा केह पाहु जो बद्धा। सो पर तेहा गोरीं लद्धा।।' का अर्थ गुप्त जी ने किया है कि "जो किसी प्रकार की बाधाओं के चरण में बँधा उसने और केवल उस प्रकार के व्यक्ति ने गोरियों को प्राप्त किया।" कोशज्ञान पर आधारित यह अर्थ कितना

---

१. डॉ० भायाणी का अभिमत भी लगभग ऐसा ही है—द्रष्टव्य भारतीय विद्या भाग १७ अंक ३०, पृ० १३०-१४६। डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया भी राउलवेल में प्रयुक्त केवल क्रियापदों के अध्ययन के आधार पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस रचना में केवल एक सामान्य भाषा का प्रयोग नहीं है जैसा कि गुप्त जी मानते हैं। द्रष्टव्य ना० प्र० पत्रिका वर्ष ६६, अंक २, ३, ४, पृष्ठ ४५३-६१

हास्यास्पद हो गया है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। उपर्युक्त पंक्ति का उपयुक्त अर्थ होना चाहिए—'आड़े (घुँघराले) केशपाशों में जो बँधा वही उन गोरियों को प्राप्त कर सका' अथवा 'उन्हीं को गोरियों ने (अपने रूप के जादू में) घसीट लिया।' कवि रोड भाषा के सम्बन्ध में इतना जागरूक है कि उन्हीं शब्दों को विभिन्न नायिकाओं के प्रसंग में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त करता है; जैसे, टक्किनी के प्रसंग में वह जहाँ 'कंठी' के लिए 'कंढी' (टक्की) का प्रयोग करता है वहीं गौड़ीया के प्रसंग में 'कांठहिं' (बँगला उच्चारण के अनुसार) का प्रयोग करता है। इसी प्रकार गौड़ीया के नखशिख में घेतले (ग्रहीत), ताडर पात (ताड़ पत्र), राँग (रंग), कुडी (कौड़ी) आदि प्रयोग द्रष्टव्य हैं। गुप्त जी ने कवि की इस प्रवृत्ति को बिलकुल महत्त्व नहीं दिया है।

वस्तुतः नखशिखों में विभिन्न प्रदेशों की भाषाओं का ऐसा रंग चढ़ा है कि उनके आधार पर रचना की मूलभाषा का निर्धारण कठिन कार्य है। उसके आरंभिक तथा अन्तिम अंश अवश्य इस प्रभाव से मुक्त हैं और उनके आधार पर कवि की मूल भाषा के सम्बन्ध में कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। गुप्त जी के अनुसार वे पंक्तियाँ दक्षिणी कोसली में हैं। किन्तु कोसली (प्राचीन अवधी) में क्रिया के कर्मणि प्रयोग नहीं मिलते जबकि "रोडें राउलवेल बरवाणी" में 'बरवाणी' क्रिया स्पष्ट ही कर्म के अनुसार है। यह प्रवृत्ति पश्चिमी भाषाओं की है। कोसली की प्रवृत्ति के अनुसार तो उसे 'बरवाणा' होना चाहिए।

गुप्त जी ने आँकड़े के अनुसार भी रचना की भाषा को दक्षिणी कोसली सिद्ध करने की चेष्टा की है। उन्होंने लगभग २०० शब्द रूपों में दक्षिणी कोसली के १११ रूप और पश्चिमी अपभ्रंश के १०९ रूप माने हैं। किन्तु केवल दो रूप कम हो जाने से पश्चिमी का महत्त्व घटा देना उचित नहीं कहा जा सकता। पुनः, उनकी टीका में अनेक शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ हैं। बिना उपयुक्त अर्थबोध के शब्द रूपों का विभाजन भी सन्दिग्ध ही माना जायगा। अतः उन्होंने जो आँकड़े दिए हैं उनमें भी काफी परिवर्तन की गुंजाइश है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर कहा जा सकता है कि राउलवेल का रचनास्थान दक्षिण कोसल नहीं है जैसा कि डॉ० गुप्त ने माना है। यह शिलांकित काव्य धार (मालवा) में मिला था जो इंगित करता है कि कदाचित् वही उसका रचनास्थान भी था। अतः मालवी को 'राउलवेल' की मूलभाषा (सामान्य भाषा) माना जा सकता है।

हिन्दी विभाग
विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

•

भाषा-बोध और काव्यानन्द

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

भारतीय ज्ञान-संहिता के दृष्टिकोण से भाषा-बोध की परिधि में शिक्षाशास्त्र, निरुक्त शास्त्र और व्याकरण शास्त्र समाहित हैं। पाश्चात्य भाषाविज्ञान के आधार पर भाषा-बोध का तात्पर्य किसी भाषा के ध्वनिविज्ञान, शब्दविज्ञान, रूपविज्ञान, वाक्यविज्ञान और अर्थविज्ञान की पूरी जानकारी से है।

कोई भी काव्य ग्रंथ प्रमुखतः दो ही दृष्टियों से सम्मानित हो सकता है—(१) सामाजिक दृष्टि से मंगलकारी हो। (२) व्यक्तिगत दृष्टि से आनंदकारी हो।

काव्य आनन्दप्रद तभी हो सकता है, जब सहृदय पाठक आनन्द ग्रहण करने की क्षमता तथा पात्रता रखता हो। रिझावनहार रूप तभी रिझा सकता है, जब नैना भी रिझवार हों। नयनों को रिझवार बनाने के लिए उन्हें संस्कारी बनाना पड़ेगा। रूप-ग्रहण करने वाले मन के संस्कारी नयन कुछ स्वयं बने होते हैं, और कुछ बनाने पड़ते हैं। "ओ लाज भरे सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों"—'प्रसाद' की इस कविता-पंक्ति को ठीक तरह से भारतीय भावक के संस्कारी मानस नयन ही समझ सकते हैं।

काव्य-सौन्दर्य के सागर में अवगाहन करने के लिए भाषा-बोध की तैराकी परमावश्यक है। उसका तैराक बनने के लिए बुद्धि को भी संस्कृत बनाना पड़ता है।

कवि की काव्य-कृति में जो अलंकार, वस्तु तथा रस की ध्वनि है, जो अप्रस्तुत योजना है, जो शब्द-सामर्थ्य है, जो प्रतीक-विधान है और जो बिम्बात्मक रमणीयता है उसकी अवगति के लिए भाषाधृत वाच्यार्थ का ज्ञान सर्वप्रथम आवश्यक है। जिस सहृदय पाठक में वाच्यार्थ को समझने की शक्ति नहीं, वह न लक्ष्यार्थ समझ सकता है और न व्यंग्यार्थ। वह काव्य का आनन्द भी प्राप्त नहीं कर सकता। वाच्यार्थ का ज्ञान भाषा-बोध पर ही निर्भर है। शब्द का आनन्द अर्थ-ज्ञान पर आधृत है। शब्दार्थ-ज्ञान पर काव्यानंद निर्भर करता है। स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सत्य ही कहा है—"शब्द का माधुर्य आनंद होता है, पर काव्य में रस का मधुमय सोता तो उस अर्थ में है, जिसके साथ शब्द हमारा परिचय करा देता है। . . .अर्थ का साक्षात्कार ज्ञान का सार और साहित्य का अंतिम फल है। हे मनीषियो ! मन से इस अर्थ को पूछो और रस के दिव्य स्वाद को प्राप्त करो।" —(डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, विचारों का मधुमय उत्स : शब्द और अर्थ)।

किसी शब्द में आयी हुई ध्वनियों की कोमलता और कठोरता को समझने की शक्ति जिस पाठक में नहीं है, वह 'रवि' और 'मार्तण्ड' के प्रयोगों में अर्थ-रस का वास्तविक स्वाद

प्राप्त नहीं कर सकता। 'सरोज' और 'पंकज' के अर्थों में जो भेदक रेखाएँ हैं, उनके आनन्द का संभागी वही हो सकता है जिसने निरुक्तशास्त्र को पढ़ लिया हो। सरः+ज=सरोज, पंक+ज=पंकज—प्रथम शब्द में जो अर्थात्मक शुक्लता है और द्वितीय में जो कृष्णपक्षीय निकृष्टता है, उसे निरुक्तशास्त्री ही जान सकता है और आनन्द प्राप्त कर सकता है। पन्त जी ने गांधी जी के लिए कहा—"पशुता का पंकज, बना दिया तुमने मानवता का सरोज।"

क्षीण तथा अस्वस्थ काया 'शरीर' है और पुष्ट तथा स्वस्थ काया 'देह' है। 'शरीर' और 'देह' के अर्थ-भेद को गीताकार जानता है।[1]

'झटपट चल' और 'जल्दी से चल' वाक्यों के पद-विन्यास में अक्षरों की ह्रस्वता और दीर्घता कार्य के प्रति शीघ्रता तथा अधीरता और विलम्ब तथा धैर्य प्रकट करती है। काव्य के इस सौन्दर्य को भाषा-बोधी ही समझ सकता है। आचार्य कुन्तक ने काव्य-भाषा में ऐसे वर्ण-प्रयोगों को वर्णवक्रता के अन्तर्गत बता कर वक्रोक्ति की महत्ता सिद्ध की है।

तुलसी 'रामचरितमानस' के बालकाण्ड में पुष्पवाटिका-वर्णन के प्रसंग में लिखते हैं—

"कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदयं गुनि॥" (बाल० २३०।१)

उपर्युक्त शब्द-संयोजना में वर्णों के नाद ने ही कंकन, किंकिनी और नूपुर की झंकार समुपस्थित कर दी है।

भरत के आगमन का समाचार सुनकर चित्रकूट पर रामचन्द्र जी को जो अधीरता हुई और भरत से मिलने के लिए जो शीघ्रता रामचन्द्र जी ने की, उसे निम्नांकित अर्द्धाली के पदों की ह्रस्ववर्णता प्रकट कर रही है—

"उठे रामु सुनि प्रेम अधीरा।
कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥" --(अयो० २४०।८)

यहाँ "कहुँ पट, कहुँ निषंग धनु तीरा" की वर्णह्रस्वता शीघ्रता को व्यक्त करने में सफल सिद्ध हो रही है। यहाँ पाठक की सहायता भाषा-बोध ही कर सकता है।

कवि के द्वारा रचे हुए भाव-जगत् में स्त्री और पुरुष बदल जाया करते हैं। वहाँ स्त्रीलिंग शब्द पुंलिग और पुंलिग शब्द स्त्रीलिंग बन जाते हैं। 'पादुका' शब्द स्त्रीलिंग है, लेकिन भरत का राम के प्रति जो भक्ति-भाव है, उस भक्ति-भावना में जो रामत्व समाविष्ट है, उसी

---

१. "वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥"
शरीर=√शॄ+ईरन् (=जो क्षीण है) --(गीता० २।२२)
देह=√दिह्+घञ् (=जो फैला हुआ है, पुष्ट है)

रामत्व ने 'पादुका' को पुलिंग बना दिया है। तुलसी भरत के उस पादुका-भाव को व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

"सुनि सिख पाइ असीस बड़ि, गनक बोलि दिनु साधि।
सिंघासन प्रभु पादुका, बैठारे निरुपाधि।।"
—(रामचरितमानस, अयो० ३२३)

राम-चरण के साहचर्य को प्राप्त करने वाली खड़ाऊँ भी भरत के लिए रामवत् है। इसीलिए 'पादुका' को तुलसी पुलिंग में प्रयुक्त कर रहे हैं। 'पादुका' शब्द को पुलिंग में प्रयुक्त करके तुलसी ने जो भरत की राम-भक्ति की प्रगाढ़ता और गूढ़ता व्यक्त की है, उसे भाषा-बोध के आधार पर ही समझा जा सकता है। आचार्य कुन्तक के मतानुसार 'पादुका' में लिंग-वक्रता मानी जाएगी।

उत्प्रेक्षा, पूर्णोपमा, सांगरूपक, प्रतीक-योजना अथवा बिम्ब-विधान को केवल भाषा-बोध के माध्यम से ही जाना जा सकता है।

चित्रकूट पर वशिष्ठ और निषादराज गुह का मिलन तुलसीदास जी ने 'मानस' के अयोध्याकाण्ड में वर्णित किया है। निम्नांकित पंक्तियों में वशिष्ठ और निषाद का मिलन वर्णित है। बिना भाषा-बोध के यहाँ पाठक समझ नहीं सकता कि पहले किसने किससे मिलने का उपक्रम किया है? तुलसी लिखते हैं—

"रामसखा रिषँ बरबस भेंटा।"—(अयो० २४२।६)

जिसे भाषा-बोध नहीं, उसे पता नहीं लग सकता कि रामसखा निषाद, ऋषि वशिष्ट से मिला या ऋषि वशिष्ट, निषादराज गुह से। जिसने अवधी के 'सखा' और 'रिषँ' में कारक और विभक्ति को समझ लिया, वही ठीक तरह से बिम्ब को मानस-पटल पर उतार सकता है।

अर्द्धाली के उक्त चरण में 'रिषँ' कर्ताकारक तृतीया विभक्ति में है। अतः अर्थ होगा—"ऋषि द्वारा राम-सखा भेंटा गया।" तात्पर्य यह कि वशिष्ठ मुनि ही निषाद से भेंटने में पहल कर रहे हैं। सीता जी हाथों में जयमाला लेकर रंगभूमि में आती हैं। तुलसी लिखते हैं—

"पानि सरोज सोह जयमाला। अवचट चितए सकल भुआला।।"
—(बाल० २४८।६)

इस अर्द्धाली के 'अवचट' और 'चितए' का ठीक अर्थ जिस पाठक को ज्ञात नहीं, वह नहीं जान सकता कि किसने किसको देखा? सीता जी ने राजाओं को देखा या राजाओं ने सीता जी को देखा। देखा भी तो कैसे देखा? जब द्रष्टा और दृश्य का पता नहीं, और न दृष्टि की स्थिति का पता, तो ठीक बिम्ब क्या बनेगा? यहाँ भाषा-बोध पर ही वास्तविक बिम्ब-बोध निर्भर है। जब भाषा-बोध नहीं तो बिम्ब-बोध नहीं, और जब बिम्ब-बोध

नहीं तो सच्चा बिम्बात्मक अर्थ-बोध नहीं। काव्य का आनन्द तो बिम्बात्मक अर्थबोध के उपरान्त ही प्राप्त हो सकता है।

प्रकरणगत वाक्यार्थ-बोध के लिए भी सर्वप्रथम शब्दार्थ-बोध परमावश्यक है। शब्द के अर्थरूपी राजमार्ग पर चलने वाला गन्तव्य पर पहुँच सकता है। 'मानस' में एक अर्द्धाली इस प्रकार मिलती है—

"परम तुम्हार राम कर जानिहि। सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहि ।।"

--(अयो० १७५।७)

वाक्यार्थ पर दृष्टि रखने वाले को सूझेगा कि यहाँ 'परम' के स्थान पर 'मरम' पाठ होना चाहिए।

जिस पाठक को विद्यापति की मैथिली भाषा में 'बजाव" क्रिया का काल-अर्थ-सूचक बोध नहीं, उसे क्या बिम्बानुभूति होगी? विद्यापति लिखते हैं—

"नन्दक नंद कदम्बक तरु तर, धिरे धिरे मुरलि बजाव।"

--(विद्यापति-पदावली)

बिना भाषा-बोध के न तो यह पता चलता है कि नंद का पुत्र कदम्ब वृक्ष के नीचे धीरे-धीरे मुरली बजाता है, बजा रहा है, बजाएगा, बजा चुका है या हे नंद-सुत! तू धीरे-धीरे मुरली बजा--इनमें से किसे ठीक समझा जाए? "कृष्ण मुरली बजा रहा है" और "कृष्ण मुरली बजाएगा" दोनों वाक्यों की क्रियाओं से पाठक के मानस-पटल पर पृथक्-पृथक् बिम्ब बनेंगे। ऐसी स्थिति में जिसे "बजाब" क्रिया का व्याकरणिक अर्थ नहीं मालूम, उसको क्या वास्तविक चाक्षुष बिम्ब गोचर होगा? बिम्ब का सम्बन्ध भाव-विस्तृति और भाव सघनत्व से होता है। यह विस्तृति और सघनत्व ही काव्यानंद में सहायक हुआ करते हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र का उपमान कुछ-कुछ प्रतीक से मिलता है। अन्तर यह है कि उपमान रूप, गुण और धर्म के साम्य को लेकर चलता है और व्यक्ति या वस्तु को व्यक्त करने में रूढ़ होता है, लेकिन प्रतीक प्रभाव-साम्य को लेकर चलता है और विशेष रूप से भाव-पुंज को व्यक्त करता है। यह रूढ़ नहीं होता। नवीन होने के कारण प्रतीक के प्रतीक्य[1] को पकड़ना

---

१. 'प्रतीक-प्रतीक्य' को समझने के लिए 'उपमान-उमेय' का समझना सहायक सिद्ध हो सकता है। हमने 'उपमेय' की भाँति प्रतीक-विधान में "प्रतीक्य" शब्द गढ़ा है। डॉ० ओमप्रकाश गोविल, अंग्रेजी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय ने हमें बताया है कि अंग्रेजी में प्रतीक्य के लिए 'TENOR' शब्द है।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने 'उपमान' को बहुत कुछ प्रतीक-सा ही व्यक्त किया है। अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानंद' (चौखंबा, बनारस) में उपमालंकार के उदाहरण में

कठिन हो जाता है। उपमान के उपमेय को तो सुगमता से जाना जा सकता है। काव्य में 'कमल' और 'चन्द्र' को देखते ही पाठक समझ सकते हैं कि इनका उपमेय 'मुख' होगा। यदि काव्य में 'साँझ', 'रात', 'धूल की ढेरी' आदि शब्द आते हैं, तो पाठक को कठिनाई होगी कि किसकी ओर इनका संकेत है।

हिन्दी के एक कवि ने लिखा है—

"पदों में साँझ, नयन में रात।"

यहाँ 'साँझ' प्रतीक है 'थकान' का, और 'रात' प्रतीक है 'नींद' का। इसे जानना आसान नहीं है। प्रतीक यदि रूढ़ होते तो आसानी से जाने जा सकते थे।

पंत जी ने लिखा है—"धूल की ढेरी में अनजान। छिपे हैं मेरे मधुमय गान।"—इन पंक्तियों में 'धूल की ढेरी' छोटे-छोटे भोले धूल धूसरित बालकों का प्रतीक है। इसके प्रतीक्य को समझने में वही पाठक सफल हो सकता है, जो पंत जी की उपर्युक्त पंक्तियों के वाक्य का ठीक-ठीक अन्वय कर सकता है अर्थात् "मेरे मधुमय गान अनजान धूल की ढेरी में छिपे हैं।" 'धूल की ढेरी' के प्रतीक्य में कोमलता, निष्कपटता, सरलता, भोलापन और दीन-हीनता का भाव-पुंज समाविष्ट है।

एक ही शब्द काव्य में उपमान-सूचक भी हो सकता है और प्रतीक-सूचक भी। 'कमल' जब हाथ, आँख या मुख को सूचित करेगा, तो उपमान होगा और जब कल्याण या मंगल को सूचित करेगा तो प्रतीक होगा। प्रतीक प्रायः अमूर्तसूचक और भाव-सूचक होते हैं, किन्तु वे कभी-कभी वस्तु या व्यक्ति को भी सूचित किया करते हैं। पंत जी का 'धूल की ढेरी' प्रतीक 'बालक' के लिए आया है। निम्नांकित कविता में 'हिमालय' शब्द 'महात्मा गांधी' के लिए प्रयुक्त है। अतः 'हिमालय' प्रतीक और 'महात्मा गांधी' प्रतीक्य हैं—

"आज युगों के बाद हिमालय हिलकी भर कर रोया।"

यहाँ 'हिमालय' प्रतीक तभी है, जब उससे धीरता, गंभीरता, अचलता, कष्ट सहिष्णुता आदि भाव-पुंज की ध्वन्यात्मक सूचना मिल जाती हो। किसी 'प्रतीक्य' के लिए 'प्रतीक' का प्रयोग करना साधारण कवि का काम नहीं।

'कीर्ति' को उपमेय और 'हंसी' को उपमान माना है—"हंसीव कृष्ण! ते कीर्तिः स्वर्गङ्गां अवगाहते।"

उपमान	उपमेय	प्रतीक	प्रतीक्य
(१) हंसी	(१) कीर्ति	(१) हंसी	(१) धवलिमा + विद्या + प्रजा-सुख + नगर-ग्राम-वैभव + न्याय + सदाचरण को अंग-पुंज-समष्टि = कीर्ति

कविता की यह पंक्ति एक कवि ने उस समय लिखी थी, जिस समय कस्तूरबा का देहान्त हुआ था।

काव्य में प्रतीक अधिकांश में 'भाव' या 'अनुभूति' की शबलता, प्रबलता और सघनता को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं। उपमान यदि वस्तु-अभिव्यक्ति है, तो प्रतीक भाव-अभिव्यक्ति है, प्रवृत्ति-अभिव्यक्ति है। वानर युद्ध-भूमि में रावण को देखकर कहने लगे—"प्रभो! अन्धकार अब आगे बढ़ता हुआ चला आ रहा है।" यहाँ कृष्णवर्ण 'रावण' उपमेय और 'अन्धकार' उपमान है। शंकर पार्वती से कहने लगे—"पार्वती! प्राणी अपने अंधकार को मिटा दे, तो परमतत्त्व को प्राप्त कर सकता है।" यहाँ 'अन्धकार' प्रतीक है, क्योंकि 'अज्ञान' को अभिव्यक्त कर रहा है। "तमसो मा ज्योतिर्गमय" में 'तमस्' और 'ज्योतिः' प्रतीक हैं। 'प्रकाश' आध्यात्मिक ज्ञान को सूचित करे, तो प्रतीक होगा। कबीर की निम्नांकित पंक्ति में 'झल' प्रतीक है, क्योंकि इसका प्रतीक्य 'आध्यात्मिक लगन' है। इस लगन में नैर्मल्य है, ऊष्मा है और प्रकाश है।

"कहै कबीर गुर दिया पलीता, सो झल बिरलै देखी।"

—(कबीर ग्रंथावली, पदावली, पद ८)[१]

बिम्बात्मक समीक्षा को पाश्चात्य विद्वानों ने बीसवीं शती के प्रारंभ में जन्म दिया था। दार्शनिक हुल्म और कवि पाउंड इसके जन्मदाताओं में प्रमुख थे। बिम्ब-विधान हमारे भारतीय अलंकारशास्त्र के सांगरूपक विधान के समानान्तर कुछ-कुछ माना जा सकता है। सांगरूपक जहाँ वस्तु-संयोजना को सांगोपांग उपस्थित करता है, वहाँ बिम्ब-विधान भाव-सघनता के साथ अर्थाभिव्यक्ति है।

वैसे एकाकी बिम्ब भी होता है। प्रायः बिम्ब पाँच प्रकार के होते हैं, जो ज्ञानेन्द्रियों से सम्बद्ध हैं—(१) रूपात्मक बिम्ब, (२) नादात्मक बिम्ब, (३) तेजस बिम्ब, (४) घ्राण बिम्ब, (५) स्पर्श-बिम्ब। लेकिन काव्य के बिम्ब-विधान में कई बिम्ब एक साथ भी संश्लिष्टावस्था में आते हैं। उनमें चल-अचल, लक्षित-उपलक्षित आदि सभी प्रकार के हो सकते हैं। बिम्ब-विधान में प्रतीक अधिक सहायक होते हैं। वैसे कभी-कभी उपमान-पुंज भी सहायक सिद्ध हो जाता है। कवि की भाषा ऐसी अलंकृत और विचित्र होती है कि उसमें रूपकातिशयोक्तिगत उपमान से ही 'उपमेय' समझ लिया जाता है, जैसे "झरैं अरबिन्दन ते बुंद मकरंद के"—यहाँ उपमान अरविन्द और मकरंद से उपमेय नेत्र और आँसू व्यक्त हो रहे हैं। कभी उपमेय से उपमान भी समझ लिया जाता है, जैसे "युवक ने मन की लगाम साधी।" यहाँ 'मन' उपमेय है। यह उपमान 'घोड़ा' को बता देता है।

---

१. संपादक श्री श्यामसुन्दरदास, कबीर ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं० २०१८ वि०, पृ० ७१।

'आत्मगत सौन्दर्य' के लिए यदि 'पुष्प-गन्ध' उपस्थित की जाएगी तो वहाँ पुष्प-गन्ध को प्रतीक कहा जाएगा। पद्मावती के मूर्च्छित हो जाने पर जायसी ने लिखा—

"फूल मुएउ पै मुई न बासा।' (पदमावत, ३९७।७)[1]

'जीवात्मा' को कमलिनी और ब्रह्म को सरोवर का पानी कहना प्रतीक-योजना के अन्तर्गत है। कबीर ने कहा—

"काहे री नलिनीं तू कुम्हलानी।
तेरें ही नालि सरोवर पानीं।।"—(कबीर ग्रंथावली, पद ६४)[2]

उपर्युक्त उद्धरणों में 'बासा', 'मुएउ', 'नलनी', 'नालि' आदि शब्दों के अर्थ जानने के उपरान्त ही प्रतीक को तथा प्रतीक्य को समझा जा सकता है।

'रामचरितमानस'[3] में तुलसीदास जी ने अयोध्याकाण्ड के अंतर्गत कैकेयी को नदी बताया है और उसके क्रोध को नदी का जल। इस तरह सांगरूपक अलंकार के माध्यम से अप्रस्तुत विधान प्रस्तुत किया गया है—

"दोउ बर कूल, कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी बचन प्रचारा।।
ढाहत भूप रूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला।।"
—(अयो० ३४।३, ४)

उपमेय	उपमान
(१) कैकेयी	(१) नदी
(२) कैकेयी का क्रोध	(२) नदी का जल
(३) कैकेयी का हठ	(३) जल की धारा
(४) कूबरी-वचन	(४) भँवर
(५) भूप दशरथ	(५) नदी किनारे का वृक्ष
(६) राजा दशरथ की विपत्ति	(६) समुद्र

तुलसीदास के द्वारा उक्त अर्द्धालियों में मूर्त उपमेय के लिए मूर्त उपमान प्रस्तुत किए गए हैं। यह साम्य स्थूल वस्तुओं की संयोजना प्रस्तुत कर रहा है। प्रतीकों के आधार पर

---

१. संपादक डॉ० माताप्रसाद गुप्त, जायसी ग्रंथावली, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, सन् १९५१ ई०, पृ० ३८७।

२. संपादक, श्री श्यामसुन्दरदास, कबीर-ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् २०१८, पृ० ८४।

३. संपादक, श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, रामचरितमानस, काशिराज-संस्करण, संवत् २०१८, पृ० १५७।

यदि बिम्ब-विधान प्रस्तुत करना कवि को अभीष्ट होता तो वह नदी के उपांगों पर बल न देकर नदी के जल-प्रवाह में अनेक प्रकार की क्रियाएँ दिखाता और क्रोध की विस्तृत एवं घनीभूत अभिव्यक्ति करता। तभी क्रोध-भाव का प्रभावी रूप पाठक के मन को प्रभावित करता। किन्तु यहाँ तुलसी ने नदी के जल में उफान, तरंगों में हलचल तथा लहरों में भयंकरता आदि नहीं दिखायी। सारांश यह कि क्रोध-भाव की सघनता के प्रति कवि उदासीन है। वह तो सांग मूर्त-विधान पर बल दे रहा है। अतः उपर्युक्त पंक्तियों में अप्रस्तुत-विधान माना जाएगा, बिम्ब-विधान नहीं।

उपर्युक्त अप्रस्तुत विधान की सांगरूपकता का पूरा चित्र तभी पाठक की समझ में आ सकता है, जब वह यह समझ ले कि इन पंक्तियों का अन्वय क्या है? इनमें प्रयुक्त 'कूबरी वचन प्रचारा' और 'अनुकूला' शब्दों की अर्थावगति भी परमावश्यक है। "नदी विपति बारिधि अनुकूला चली" का अर्थ जानने पर ही सांगरूपक की पूरी संगति समझ में आ सकती है। 'अनुकूल' और 'प्रतिकूल' दो शब्द हैं। ये दोनों विशेषण हैं जो क्रिया की विशेषता बताते हैं। नदी विपत्ति रूपी ससुद्र के अनुकूल चली अर्थात् समुद्र की ओर चली—यह अर्थ है। नदी का समुद्र की ओर उन्मुख होना अनुकूल होना है। यहाँ 'अनुकूल' को 'अनुकूला' लिखा गया है। छन्द तथा तुकान्त के कारण ही 'अनुकूल' में अंतिम शब्द के अंतिम 'अकार' को आकार में परिवर्तित किया गया है। तुलसी की भाषा की इस प्रकृति को जानने पर ही सांगरूपकता की पूर्ण चित्रात्मकता नेत्रों में समा पाती है। सारांश यह कि भाषा-बोध पर सांगरूपकता की अवगति आश्रित है।

अप्रस्तुत विधान ही नहीं, बिम्ब-विधान भी भाषा-बोध चाहता है। प्रसाद जी 'कामायनी' में श्रद्धा के मुख की मुसकान के सम्बन्ध में एक छन्द इस प्रकार लिखते हैं—

"और उस मुख पर वह मुसक्यान!
रक्त किसलय पर ले विश्राम।
अरुण की एक किरण अम्लान,
अधिक अलसाई हो अभिराम।"

—(कामायनी,[1] श्रद्धा, पृ० ५५)

कवि ने यहाँ क्या प्रतीक, क्या प्रतीक्य तथा क्या बिम्ब-विधान प्रस्तुत किया है—इसे तभी समझा जा सकता है, जब उक्त छन्द का ठीक अन्वय कर लिया जाए। अन्वय यह होगा—

"उस मुख पर मुसकान (क्या है), मानो अरुण की अधिक अभिराम अम्लान एक किरण रक्त किसलय पर विश्राम लेकर अलसायी हो।"

---

१. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सं० १९९६ वि०।

इन उपर्युक्त पक्तियों में 'अरुण की किरण', 'मुसकान' का प्रतीक है। रक्त किसलय श्रद्धा के कोमल तथा लाली सहित गौर-वर्ण ओष्ठ का प्रतीक है। अरुण की किरण ने आकाश में लम्बी यात्रा की है। वह थक गई है। थकान मिटाने के लिए रक्त किसलय की शय्या पर किरण ने जिस सौन्दर्य के साथ अपने शरीर को लिटाया है, उसमें कवि ने थकान, विश्राम, सौन्दर्य, ताज़गी–आदि भावों का समष्टिगत सघनत्व व्यक्त कर दिया है। तनिक विश्राम करके किरण को फिर यात्रा करनी है, इसीलिए 'अलसायी' क्रिया का प्रयोग किया गया है। किरण की लम्बी यात्रा है, इसीलिए उसमें शुभ्रता तथा श्वेतिमा है। लम्बी यात्रा न होती तो किरण में लाली होती। 'लाली' से 'मुसकान' का बिम्ब व्यक्त न होता। इसीलिए 'श्वेत मुसकान' के लिए लम्बी यात्रा वाली श्वेत किरण को प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया गया है। लम्बी यात्रा के बाद ही लाल किरण श्वेत बनती है। भावों की इतनी शबलता की अनुभूति अन्वय-बोध पर ही निर्भर है। अन्वय-बोध और 'अलसायी' कृदन्त क्रिया की अर्थावगति के उपरान्त ही प्रसाद के काव्य-कौशल का आनंद लिया जा सकता है।

कई अमूर्त प्रतीकों के माध्यम से कई अमूर्त भाव रूप प्रतीक्यों का एक साथ सम्मिलित बिम्ब भी प्रसाद जी ने उपस्थित किया है—

> "झंझा झकोर गर्जन है, बिजली है नीरद माला।
> पाकर इस शून्य हृदय को सब ने आ डेरा डाला।।"

यहाँ झंझा का प्रतीक क्षोभ, झकोर का आकुलता, गर्जन का वेदना की तड़प, बिजली का टीस या चबक और नीरदमाला का निराशा रूपी अंधकार है। इन अमूर्त प्रतीकों और प्रतीक्यों के उपलक्षित और लक्षित सम्मिलित बिम्बों को पाठक अपने मानस-पटल पर तभी उतार सकता है, जब वह यह जानता हो कि 'शून्य' के अर्थ 'आकाश' और 'सूना'—दोनों होते हैं। यहाँ स्पर्श बिम्ब, दृश्य बिम्ब और नाद बिम्ब सभी एक साथ प्रस्तुत हैं। झंझा, झकोर आदि रूढ़ रूप-गुण-धर्म-साम्य पर आधृत नहीं, अतः उपमान नहीं, प्रतीक हैं। प्रसाद जी की इन पंक्तियों में प्रतीकात्मक बिम्ब-विधान है। उपमान पर आश्रित रूपकातिशयोक्तिमूलक अप्रस्तुत विधान नहीं।

अतः हम कह सकते हैं कि किसी पाठक के लिए बिना भाषा-बोध के काव्य का आनन्द प्राप्त करना असंभव है।

८७ हरिनगर, अलीगढ़–२०२००१

●

भक्तिकाल की युगीन पीठिका का पुनर्मूल्यांकन

डॉ० मदनगोपाल गुप्त

हिन्दी साहित्य की परम्परागत उपलब्धियों में भक्तिकाल निर्विवाद रूप से एक मूल्यवान सांस्कृतिक एवं साहित्यिक उपिलब्धि है और इसकी काव्य-सम्पदा संस्कृति एवं साहित्य के परस्परावलम्बन का साक्ष्य उपस्थित करती है। साहित्यिक इतिहास में इस काल की अवस्थिति समय-सीमा की दृष्टि से प्रायः निर्विवाद मानी जाती है किन्तु आदिकाल विषयक नवीन स्थापनाओं तथा भक्तिकाल की उपलब्ध सामग्री की अखण्ड परम्परा के प्रकाश में इस युग के आरम्भ पर पुनर्विचार अपेक्षित हो गया है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को लेकर मुख्यतः दो परस्पर-विरोधी मत प्रस्तुत किए गए हैं। प्रथम के अनुसार कदाचित् पलायनवादी कलागत प्रयोजन का उपयोग कर के इसे समकालीन परिस्थितिजन्य विवश तथा पराजय से हताश मनोवृत्ति की उपज माना गया है। द्वितीय मत ठीक इसके विपरीत भक्तिकाव्य को एक प्रकार से युगीन परिस्थिति से सर्वथा अलिप्त या अप्रभावित और शताब्दियों से चली आ रही भारतीय चिन्ता-धारा या साधना-परम्परा का स्वाभाविक विकास मात्र घोषित करता आया है। इनके अतिरिक्त कुछ अल्प-प्रचलित अन्य मत भी हैं जिनमें से डॉ० ग्रियर्सन इसे अचानक चमक उठने वाली विद्युत कौंध-मात्र मानते हैं, तो कुछ एक योरोपीय विद्वान् भक्ति-आन्दोलन में ईसाइ की छाप देखते हैं। ऐसी मान्यताओं का सम्यक् परीक्षण कर के डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की भूमिका नामक ग्रन्थ में उनकी आधारहीनता प्रमाणित कर दी है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ग्रियर्सन का उपर्युक्त मत इतिहास-दर्शन के प्रकाश में कल्पना मात्र ही कहा जा सकता है क्योंकि काण्ट और हेगल के अनुसार इतिहास की घटनाएँ आकस्मिक न हो कर नियमबद्ध तथा आन्तरिक प्रवृत्तियों से सुसम्बद्ध होकर उनमें कार्य-कारण की श्रृंखला विद्यमान रहती है। अतः केवल यही विचारणीय शेष बचता है कि क्या भक्तिकालीन काव्य निराश मनोवृत्ति की देन होने के कारण पलायनवादी काव्य है अथवा युगीन चेतना के विविध पक्षों से अलिप्त परम्परा की देन-मात्र है।

साहित्य का सम्बन्ध रचयिता के व्यक्तित्व, उसकी मानसिक प्रक्रियाओं, सामाजिक वातावरण, युगीन चेतना एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों आदि इन सभी से रहता है। काव्य-सर्जन या साहित्यिक विकास के आधार रूप में हडसन प्रभृति चिन्तकों ने युग-चेतना और परम्परा के साथ साहित्यकार के विशिष्ट व्यक्तित्व को स्वीकार किया है। अतः भक्तिकालीन साहित्य को राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से नितान्त निरपेक्ष मानना साहित्य-सर्जन की मूल चेतना के सिद्धान्त के अनुरूप नहीं कहा जा सकता। भक्तिकाव्य को हताश मनोवृत्ति की देन

मानने वाले विवेचक यह भी कहते हैं कि उससे पराजित और निराश जन-मन को अमर आश्वासन प्राप्त हुआ और उनमें आशा का संचार हो उठा। प्रश्न यह उठता है कि निराश अन्तःकरण से उद्भूत भाव या विचार श्रोता या पाठक में आशा या उत्साह का संचार कैसे कर सकते हैं ? अतः उक्त मान्यता को भी संदिग्ध ही कहा जायेगा। वस्तुतः काल-निर्धारण में आरम्भिक असावधानी तथा परवर्ती विवेचनों में उसकी बिना किसी परीक्षण के पुनरावृत्ति इसके लिए पूर्णतया उत्तरदायी है। इसमें सन्देह नहीं कि आगे चल कर डॉ० नगेन्द्र ने पुराने काल-निर्धारण को स्वीकार कर के भी यह स्वीकार किया कि इस युग का भारतीय जीवन निष्प्रभ या निस्तेज न होकर नव-जीवन की अरुणिमा से महिमा-मण्डित है।[1]

किसी काल की अवस्थिति तथा उसकी युगीन पीठिका का महत्व मूलतः उसके काल-निर्धारण पर निर्भर करता है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल की परिसमाप्ति १३७५ वि० अर्थात् वीरगाथाओं की रचना की समाप्ति की सम्भावना के आधार पर मानना और इस आग्रह के आधार पर यहीं से भक्तिकाल का आरम्भ और उसकी पृष्ठभूमि पर अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल की परिस्थिति का आरोपण भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से सम्बन्धित विवाद के लिए उत्तरदायी है। परवर्त्ती अध्ययनों एवं विवेचनों के प्रकाश में आदिकाल-विषयक मान्यताओं में मूलतः परिवर्तन आ चुका है। अतः उसके आधार पर भक्तिकाल के आरम्भ की मान्यता भी पुनर्विचार की अपेक्षा रखती है। यह उल्लेखनीय है कि जिन विद्वानों ने सं० १३७५ वि० से भक्तिकाल का आरम्भ स्वीकार किया है, उन्होंने प्रायः कबीर को भक्तिकाल का आरम्भिक कवि माना है। वस्तुतः हिन्दी भक्तिकाव्य की अखण्ड परम्परा कबीर की अवस्थिति काल या उसके कुछ बाद से ही आरम्भ होती है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि भक्तिकाल का काल-निर्धारण निश्चय ही परम्परागत मान्यताओं में परिवर्तन की अपेक्षा रखता है और ऐसी स्थिति में युगीन पीठिका का नये सिरे से पुनर्मूल्यांकन आवश्यक हो जाता है।

समय-सीमा

हिन्दी साहित्य के विकास को सर्वप्रथम वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने वाले विद्वान् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं, जिन्होंने भक्तिकाल का सीमांकन सं० १३७५ वि० से १७०० वि० तक किया है।[2] जहाँ तक अन्तिम सीमा का विषय है उसकी उपयुक्तता पर किसी प्रकार की संदिग्धता को स्थान नहीं है, क्योंकि उसके पश्चात् काव्याभिव्यक्ति का मुख्य प्रवाह रीति और शृंगार की प्रेरणा को लिए हुए हैं। भक्ति की प्रबल प्रेरणा का स्वर उसमें क्षीण ही है। किन्तु आरम्भ को लेकर कतिपय अध्येताओं ने विस्तृत परीक्षण और विवेचन भले ही प्रस्तुत न किए हों किन्तु जो सुझाव दिये हैं, वे इस समस्या की सम्यक् विश्लेषण की अपेक्षा रखते हैं।

---

१. देखिए, डा० नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८२।

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकरण १, पृष्ठ ३।

सर्वप्रथम यदि साहित्य के अनेक इतिहास लेखकों द्वारा समर्थित आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत पर विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि १३७५ वि० का उनका सीमांकन हमीर के पश्चात्-वीरगाथाओं की समाप्ति के अनुमान पर आधारित है। किन्तु यह स्मरणीय है कि सं० १३७५ वि० (सन् १३१८-१९ ई०) का समय देश में मुसलमानों की राज्यशक्ति की सुदृढ़ प्रतिष्ठा न था। उस समय और उसके कुछ बाद तक भारत की प्राय: सभी मुस्लिम राजशक्तियाँ बिखर कर टूट गई थीं और हिन्दू सरदारों को पुन: शक्ति अर्जन का सुअवसर प्राप्त हो गया था। अत: निराश या हताश के ठीक विपरीत मन:स्थिति का युग कहना चाहिए।[1] दूसरी बात यह है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार निर्गुण पंथ का आरम्भ कबीर से होता है[2] और यह सर्वविदित है कि कबीर का कविता काल सन् १४२५ ईस्वी के आसपास पड़ता है। ऐसी स्थिति में सं० १३७५ वि० (सन् १३१८ ईसवी) से कम-से-कम सौ वर्ष पश्चात् ही भक्तिकाल का आरम्भ माना जा सकता है।

डॉ० भगीरथ मिश्र तथा डॉ० रामबहोरी शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास' (पृष्ठ १०) में नामदेव को भक्तिकाल में सम्मिलित कर के सन् १३०० ईसवी के आसपास उसका आरम्भ माना है।[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नामदेव के परिचय में उन्हें निर्गुण पंथ का प्रवर्तक न मान कर उसके लिए मार्ग निकालने वाले कवि के रूप में माना है।[3] नामदेव के सन्दर्भ में दो तथ्य विचारणीय हैं। प्रथम तो उनकी हिन्दी रचनाओं का जो संग्रह प्रकाश में आया है उसकी भूमिका में ही उन पदों की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लगाया गया है तथा दूसरे नामदेव से निर्गुण भक्ति की रचनाओं की अखण्ड परम्परा नहीं आरम्भ होती। इसी कारण रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर से ही परम्परा का प्रवर्तन माना था। नामदेव और कबीर के मध्यवर्त्ती कालखण्ड में जो रचनाएँ हमें प्राप्त होती हैं, वे आदिकालीन काव्य-प्रवृत्तियों की कोटि में आती हैं। यही कारण है कि आदिकाल पर खोजपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करने वाले डॉ० शम्भूनाथ शुक्ल तथा डॉ० हरीश ने आदिकाल की समय-सीमा को १४५० ईसवी तक आगे बढ़ाने का पक्ष प्रस्तुत किया है।[4] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी बहुत कुछ इसी तथ्य के समर्थक कहे जा सकते हैं, यद्यपि उन्होंने सीमांकन को १४०० ईसवी निर्धारित किया है।[5]

आंग्ल विद्वान् एफ० इ० के० महोदय ने यद्यपि काल विभाजन नहीं किया है किन्तु वे रामानन्द से ही उत्तर में भक्ति का प्रसार मानते हैं।[6] वस्तुत: काल-निर्धारण की दृष्टि से

---

१. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य, डॉ० मदनगोपाल गुप्त, मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति, अध्याय द्वितीय।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७२। ३. देखिए, वही, पृष्ठ ७२।

४. डॉ० शम्भूनाथ शुक्ल--आदिकालीन हिन्दी साहित्य, पृष्ठ ३९ तथा डॉ० हरीश आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध।

५. हिन्दी साहित्य, उद्भव और विकास, पृष्ठ २७ तथा ५८।

६. ए हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर--लेखक--एफ० इ० के०, पृष्ठ १९।

उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन का प्रवर्त्तन प्रायः सभी ने रामानन्द से माना है, भले ही वैचारिक दृष्टि से कुछ आगे-पीछे दक्षिण के अन्य भक्ति-समुदायों का योग रहा हो। यह उल्लेखनीय है कि युग-विशेष के निर्धारक दो पक्ष ही माने जा सकते हैं—एक तो प्रवृत्ति की प्रधानता तथा दूसरे रचनाओं की प्रसिद्धि और प्रचुरता। इस दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो जनता की चित्तवृत्तियों के क्रान्तिकारी परिवर्तन के क्षेत्र में रामानन्द का महत्व अन्यतम है। भक्ति-आन्दोलन द्वारा धार्मिक क्षेत्र में उपासनागत स्वतंत्रता, सांस्कृतिक परिष्कार तथा जिस सामाजिक साम्य की भावना का संचार उन्होंने किया था, वह उन्हीं की प्रेरणा से कबीर, रैदास, दादू, नानक आदि द्वारा इस युग के साहित्य में सर्वथा परिव्याप्त हुआ। सूर और तुलसी जैसे भक्तों की रचनाओं में यही चेतना और भी परिष्कृत रूप में दृष्टिगत होती है। रचनाओं की प्रचुरता प्रसिद्धि की दृष्टिसे भी विचार करें तो रामानन्द के पश्चात् ही भक्त-कवियों की परम्परा की अक्षुण्ण धारा हमें प्राप्त होती है। अतः उपर्युक्त सभी दृष्टिकोणों से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँचते हैं कि हिन्दी के भक्तिकाल का प्रवर्त्तन कम-से-कम १४०० ईसवी के पश्चात् अथवा १४०० ईसवी से १४५० ईसवी के समय से माना जाना ही अधिक उचित होगा।

मध्यावधि का हिन्दी काव्य

मध्यावधि (सं० १३७५ वि० से सं० १४७५ वि०) के बीच रचित हिन्दी काव्य-कृतियों का जो अस्तित्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास लेखन के पश्चात् प्रकाश में आया है उसके द्वारा भी हमारे उपर्युक्त मन्तव्य की पुष्टि होती है। ये रचनाएँ मुख्यतः तीन प्रकार की हैं—

(१) **धार्मिक और नैतिक उपदेश प्रधान रचनाएँ**—इसके अन्तर्गत सिद्धों और नाथों की बानियाँ तथा जैन साहित्य में परिगणित कृतियाँ आती हैं। इनमें जैन कवियों के लगभग ४८ मुक्तक संग्रह तथा लगभग ४५ प्रबन्ध कृतियाँ हैं। प्रबंध-कृतियों में लगभग २३ जैन साधकों के जीवन या उनकी किसी घटना को लेकर प्रस्तुत हुई हैं जिनके अतिरिक्त कुछ पौराणिक और कुछ ऐतिहासिक प्रबन्ध हैं।

(२) **शृंगार-परक रचनाएँ**—इस कोटि में आने वाली ढोला-मारू-रा-दूहा, चन्दायन, सिरिथूलि फागु (१४वी शताब्दी) में नेमिनाथ फागु जैसी प्रबन्ध तथा वसन्तविलास और विद्यापति पदावली जैसी मुक्तक रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त वीर और शृंगार मिश्रित कतिपय रोमांचक काव्य भी प्राप्त होते हैं।

(३) **वीरगाथात्मक रचनाएँ**—इस कोटि में आने वाली रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) नीसाणी वीरमाण री—बादर ढाढ़ीकृत (रचनाकाल सं० १४४० वि०)
(२) रणमल्ल छन्द—श्रीधर (सं० १४४७ वि०)।
(३) गजसिंह चरित—नेमिकुंजर (सं० १४५२ वि०)।
(४) हम्मीर महाकाव्य—नयचन्द्र सूरि (सं० १४६० वि०)
(५) अचलदास खीची री वचनिका—शिवदास (सं० १४७८ वि०)
(६) सदयवत्स वीर प्रबन्ध—भीमकृत।

इन रचनाओं की अवस्थिति इस तथ्य की द्योतिका है कि हम्मीर के पश्चात् से वीर-गाथाओं की परिसमाप्ति नहीं हुई थी।

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि सं० १३७५ वि० से लेकर सँ० १४७५ वि० या १४८० वि० तक का कालखण्ड साहित्यिक प्रवृत्तियों से किसी भी प्रकार शून्य था और ये प्रवृत्तियाँ वस्तुतः हिन्दी की आदिकालीन काव्य-प्रवृत्तियों से अभिन्न ही हैं। यही कारण है कि आदिकाल के शोधकर्त्ताओं ने उसकी समय-सीमा को लगभग एक शती और आगे बढ़ाने का सुझाव दिया है जिसे हम आरम्भ में लक्ष्य कर चुके हैं, भक्तिकाल के प्रवर्त्तन के काल में इस संयुक्तिक परिवर्त्तन की स्थिति में उसकी पृष्ठभूमि पर नये सिरे से विचार करने की आवश्यकता स्वयं सिद्ध है।

युगीन पृष्ठभूमि

युग-विशेष की साहित्यिक चेतना के निर्माण में तत्कालीन परिस्थिति अथवा युगगत ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। संक्षेप में कहा जाय तो यह युग भारतीय जनता के आशा-आकांक्षा भरे अन्तःकरण से जीवन के विविध पक्षीय संघर्ष, सांस्कृतिक पुनरुत्थान, परम्परागत जीवनमूल्यों की नई व्याख्या द्वारा उतनी कालानुवर्त्ती प्रतिष्ठा तथा युगानुरूप धर्मसाधना के प्रचार-प्रसार का युग था। इस पृष्ठभूमि पर अधिष्ठित होने के कारण ही उत्तर भारत का भक्ति-आन्दोलन अपने युग की ही नहीं किन्तु परवर्त्ती युग की भी दीर्घकाल तक प्रेरक शक्ति बना रहा। इस प्रसंग पर उन स्थापनाओं की भी सक्षिप्त चर्चा यहाँ आवश्यक है, जो इससे भिन्न कही जा सकती हैं।

(१) **विदेशी प्रभाव**—भक्ति साहित्य पर विदेशी प्रभाव मानने वाले विवेचकों में से डॉ० ग्रियर्सन, बेबर, केनेडी तथा कीथ ने श्रीमद्भागवत पर नेस्टोरीयन ईसाइयों के प्रभाव पर बल दिया है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'सूर-साहित्य' नामक ग्रंथ में इस मान्यता की आधार-हीनता प्रमाणित कर दी है। इसी प्रकार डॉ० ताराचन्द्र ने भक्ति-आन्दोलन पर इस्लाम का प्रभाव सिद्ध करने के लिए तोड़-मरोड़ कर कतिपय तथ्यों को प्रस्तुत किया है।

(२) **युगीन परिस्थिति और भक्ति-आन्दोलन** के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तीन बातें लिखी हैं—

(क) राजनीतिक पराभव से उत्पन्न निराशा तथा उस स्थिति में भगवान की करुणा और महिमा को स्मरण करने की एकमात्र विवशता।

(ख) निराश और विचलित जनता के हृदय को सँभालने और ठीक रखने के लिए कालदर्शी भक्त-कवियों द्वारा एक प्रकार से उसका निराकरण।

(ग) दक्षिण से आने वाली भक्ति की लहर द्वारा उपर्युक्त चेतना का अनुप्राणित होना।

(३) **भारतीय चिन्ता-धारा का प्रभाव**—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपर्युक्त मत का प्रतिवाद करते हुए लिखा है कि इस युग का हिन्दी साहित्य एक हतदर्प जाति की सम्पत्ति

नहीं है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उनके सत्यासत्य की परीक्षा उन्होंने नहीं की है। सम्भवतः हिन्दू जनता की पराजित स्थिति को वे मौन-भाव से स्वीकार करते हैं, किन्तु समकालीन परिस्थिति के स्थान पर युगों से चली आई हुई भारतीय चिन्ता-धारा के स्वाभाविक विकास को भक्ति-आन्दोलन के लिए उत्तरदायी मानते हैं। उनका कहना है कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का रूप बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।[1] भक्ति-साहित्य का शेष चार आना किस परिस्थिति की देन है, इसके विषय में वे पूर्णतः मौन हैं। यह हम आरम्भ में ही निर्दिष्ट कर चुके हैं कि युगीन परिस्थितियों से एकदम अलिप्त काव्य-रचना वास्तविकता से कोसों दूर है। साथ ही भक्ति-आन्दोलन केवल विविध धार्मिक मत-मतान्तरों के प्रचार का सामूहिक नाम न होकर एक प्रकार से सांस्कृतिक पुनर्जागरण है जो कि जीवन के सभी पक्षों की प्रेरक शक्ति बन कर चौदहवीं या पंद्रहवीं शताब्दी ईसवी के आस-पास प्रवर्त्तित हुआ।[2]

राजनीतिक संघर्ष और युगीन चेतना

पूर्ववर्ती विवेचन में यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अलाउद्दीन के शासनकाल की राजनीतिक परिस्थितियों को भक्ति-काल की पृष्ठभूमि के रूप में आरोपित किया है। यदि हम उन्हीं के सीमांकन को स्वीकार करें तो भी सं० १३७५ वि० के लगभग की परिस्थितियाँ पराजित जनता की हताश मनःस्थिति से नितान्त भिन्न हैं। क्योंकि १३७५ वि० (सन् १३१८ ईसवी) के दो-तीन वर्ष पहले से ही खिलजी वंश का विशाल साम्राज्य अस्त-व्यस्त हो चला था और सुलतानों की सत्ता दिल्ली के आस-पास सिमट चली थी। वस्तुतः हमने जिस नये सीमांकन को भक्ति-काव्य की अखण्ड परम्परा के युक्ति-संगत प्रकाश में प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार तो १४०० ईसवी के आस-पास हिन्दू राज-शक्तियों के अभ्युदय का युग है। यदि हम भारत के मुस्लिम शासन की प्रथम बार स्थापना (सन् १२०६ ईसवी) से लेकर १४०० ई० तक के राजनीतिक घटना क्रम और तज्जन्य परिस्थितियों का आकलन करें तो हमें ज्ञात होगा कि मुस्लिम राजशक्ति की प्रतिष्ठा के दृष्टिकोण से यह अस्थिर परिस्थितियों का युग है। इस बीच में बलबन और अलाउद्दीन के शासन-कालों को छोड़ कर शेष लगभग डेढ़ सौ वर्षों में सुल्तान अधिकांशतः अपने अस्तित्व के रक्षण, राज्य-विस्तार तथा अन्त में विद्रोहों के असफल शमन में ही लगे रहे हैं। देश की जनता तथा हिन्दू राज-शक्तियाँ उनसे सतत संघर्षरत रहीं। १४०० ईसवी के कुछ पहले हुए तैमूरलंग के आक्रमण का सामना तुगलक शासक ने नहीं, दिल्ली की जनता ने किया। अतः संघर्षशील जनता को हम पराजय से हताश कैसे कह सकते हैं?

इसमें सन्देह नहीं कि देश की जनता पर धार्मिक तथा आर्थिक अत्याचार हुए, और इन अत्याचारों में वह पराजय का अनुभव भी करती होगी, किन्तु ऐतिहासिक घटनाएँ यह भी बताती हैं कि दिल्ली के शासन की पकड़ के तनिक भी ढीली होते ही स्थानीय जनता विद्रोह का

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, नवाँ संस्करण, पृष्ठ १०।

२. वही, पृष्ठ १७।

एक भी अवसर हाथ से न जाने देती थी। चौदहवीं शताब्दी के जनता के विद्रोह भरे संघर्षों का आकलन भी मूरलैण्ड ने अपने विवेचन के अन्तर्गत किया है।[1] उसने लिखा है कि कर न देने के कारण मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में गाँव-के-गाँव गोली से भून दिए जाने पर भी जनता विद्रोह करती रही। यद्यपि उसे ज्ञात था कि उसके गम्भीर परिणाम भुगतने होंगे, तथापि प्रतिवर्ष कर वसूल करने वाले कर्मचारियों की हत्या होती रहती थी। यदि जनता हताश या निराश होती तो सघर्ष न कर सकती थी। प्रायः सभी सुल्तानों द्वारा दुआवे के जमींदारों के दबाने और उनके विद्रोहों के शमन के निरन्तर प्रयास होते रहे। अतः ये सभी तथ्य जनता की जाग्रत चेतना के ही परिचायक कहे जा सकते हैं। ऐतिहासिक घटनाक्रम के सन्दर्भ में श्री पाणिक्कर महोदय ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि १४०० ईस्वी के आस-पास का काल तो वस्तुतः हिन्दू-भारत के अभ्युदय का काल है क्योंकि छोटे-बड़े हिन्दू राजा, स्थानीय सरदार और बड़े-बड़े जागीरदार उस युग के मुस्लिम शासकों और प्रान्त-पतियों से अधिक सबल थे और शासन के लिए समस्या बने हुए थे।[2]

इसमें सन्देह नहीं कि धार्मिक अत्याचारों के रूप में देवमूर्तियाँ तोड़ी गईं और बोधन जैसे धार्मिक नेता की खाल खिचवा ली गयी, किन्तु इसके पश्चात् भी जनता ने स्वेच्छया धर्म-परिवर्तन नहीं किया। लोग बोधन जैसा उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए उसके बाद भी तैयार रहे। दूसरी बात यह है कि मूर्त्तियों के टूटने की स्थिति में निराश जनता आस्थावादी से अधिक अनास्थावादी बन सकती है। उनकी सहायता न कर सकने वाले आराध्य पर जनता का विश्वास कैसे टिका रह सकता था? भक्तिकाल की सर्वाधिक प्रबल और विस्तृत सगुण धारा का सम्बन्ध तथाकथित निराशा से नहीं, उसकी आशा-आकांक्षाओं से जोड़ा जाना चाहिए; और ऐसी स्थिति में ही भक्तिकाव्य द्वारा जनता के हृदय में आशा और अमर आश्वासन का संचार हुआ होगा।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के प्रत्युत्तर में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भक्तिकाव्य को दक्षिण भारत के भक्ति-आन्दोलन की देन का जो मत प्रतिपादित किया है उसकी संक्षिप्त चर्चा की जा चुकी है। उन्होंने दक्षिण में भक्ति का कारण उस काल की लोक-प्रवृत्ति का शास्त्रसिद्ध आचार्यों और पौराणिक ठोस कल्पनाओं से युक्त हो जाना माना है।[3] वे उत्तर-भारत के भक्ति-आन्दोलन का यही स्वरूप पाते हैं। डॉ० मलिक मोहम्मद ने इसी दृष्टिकोण को पर्याप्त विस्तार के साथ प्रस्तुत करते हुए दोनों की परम्परा को सम्बद्ध करने का प्रयास किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्त्तन में दक्षिण की वैष्णव धारा के साथ-साथ उत्तर की राजनीतिक परिस्थितियों को भी उत्तरदायी समझा है, जब कि डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी सम-कालीन प्रभाव को अस्वीकार करते हैं। उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन का प्रवर्त्तन करने

---

१. डब्लू० एच० मूरलैण्ड--दि अग्रेरियन सिस्टम आफ मुस्लिम इंडिया, पृ० ४६-४७।
२. श्री के० एम० पाणिक्कर--ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री, पृष्ठ १३६-१४३।
३. हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, पृष्ठ ५५-५६।

वाले स्वामी रामानन्द दक्षिण के श्री सम्प्रदाय की परम्परा से सम्बद्ध थे, किन्तु उसका स्वरूप पूर्णतः वही नहीं था, जैसा कि दक्षिण में था।[1] सामाजिक साम्य की चेतना, जीवनगत मूल्य, साधना मार्ग तथा आराध्य के सम्बन्ध में सगुण और निर्गुण विषयक अवधारणा आदि के दृष्टिकोण से रामानन्द का व्यक्तित्त्व उनकी अपनी दक्षिण की परम्परा से स्वतंत्र अस्तित्व को प्रमाणित करता है। विल डूरेन्ट महोदय ने उनके व्यक्तित्त्व के इस पक्ष को विस्तार से प्रकाशित किया है।[2] आंग्ल मनीषी एफ० इ० के० महोदय ने उन्हें भक्ति-आन्दोलन का जनक, उत्प्रेरक तथा समवर्त्ती काल के अनेक मत-पथों का प्रेरणा-स्रोत माना है।[3] अतः वे रामानुज के विशिष्टा-द्वैत मत से आरम्भ में भले ही सम्बद्ध हों, किन्तु डॉ० बदरी नारायण श्रीवास्तव के शब्दों में उन्होंने उस युग के अनावश्यक तत्त्ववाद को विशेष महत्त्व न देकर अपनी भक्ति को बहुत ही, सरल करके भक्ति का द्वार हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र, पुरुष-स्त्री—सभी के लिए समान रूप से उन्मुक्त कर दिया, जो कि उस युग की सब से बड़ी आवश्यकता थी।[4] इस तथ्य को प्रकारान्तर से डॉ० द्विवेदी जी ने भी स्वीकार किया है।[5]

इस सन्दर्भ में अर्नोल्ड टायन्वी का यह मन्तव्य उल्लेखनीय है कि प्रत्येक समाज के अपनी परम्परागत जातीय गुण होते हैं जिनमें उसके विकास की क्षमताएँ निहित होती हैं, किन्तु किसी भी समाज में सक्रियता, बाह्य वातावरण या परिस्थितियों के दबाव के कारण आती हैं। समाज, भौगोलिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि संकट उपस्थित होने पर उसके निराकरण का मार्ग खोजता है और यह कार्य समाज के विशिष्ट सर्जनात्मक व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न होता है, जो समाज का नेतृत्व करते हुए उसे आगे बढ़ाते हैं। अतः युगीन परिस्थितियों के दोनों पक्षों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। रामानन्द ही नहीं, अपितु कबीर, नानक, दादू, तुलसीदास, चैतन्य और वल्लभाचार्य इसी चेतना की देन हैं जिन्होंने उसे संवर्द्धित करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि इस युग के कवि जन-जीवन के बीच ही संस्कारित हुए और उसकी आशा-आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। इनसे निर्मित भक्ति-आन्दोलन की चेतना दक्षिण से नितान्त भिन्न ही कही जा सकती है, भले ही दार्शनिक मतवाद वहाँ से आया हो। जाति-पाँति के भेद-भाव गत संकीर्णता तथा धार्मिक कर्मकाण्ड की जटिलता आदि पर कबीर, नानक, दादू, रज्जब आदि कवियों ने जो बार-बार आक्रोश प्रकट किया है, वह उस युग की आवश्यकता का परिणाम था। चैतन्य और तुलसीदास की विचार-धारा में उक्त सामाजिक संकीर्णता का समाधान तथा सामाजिक साम्य का प्रतिपादन

---

१. डॉ० मलिम मोहम्मद—वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन, पृष्ठ १८।
२. विल डूरेन्ट—नार्थ इंडियन सेन्ट्स्, पृष्ठ ७-८।
३. ए हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर, चैप्टर १, पृष्ठ २।
४. रामानन्द का सम्प्रदाय तथा साहित्य, भूमिका, पृष्ठ ३०।
५. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ४८।

भिन्न प्रकार से है, किन्तु वह उपर्युक्त चेतना से ही सम्बद्ध है। दक्षिण-भारत के भक्ति-आन्दोलन में सामाजिक चेतना की उपर्युक्त प्रखरता न थी, यद्यपि जातिगत उँच-नीच का भेद-भाव या संकीर्णता वहाँ भी किसी प्रकार कम न थी। अतः हिन्दी के भक्त-कवियों की सामाजिक विचार-धारा तथा उनकी सांस्कृतिक चेतना निश्चय ही उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलन को दक्षिण की परम्परा से अलग करती है।

उपर्युक्त सन्दर्भ में एक प्रश्न यह भी उठता है कि यदि उत्तर भारत की भक्ति-चेतना दक्षिण के सम्प्रदायों की परम्परा का ही स्वाभाविक विकास है, तो वह रामानन्द और कबीर के पहले यहाँ क्यों नहीं आरम्भ हुई, जब कि रामानुज के पश्चात् प्रायः सभी सम्प्रदायों के आचार्य उत्तर में आ चुके थे। केवल इतना ही नहीं, उत्तर में आने वाले श्री सम्प्रदाय के अनेक आचार्यों द्वारा अनेक साम्प्रदायिक शाखाओं के स्थापित होने के विवरण भी प्राप्त होते हैं। ऐसी स्थिति में उत्तर में भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्त्तन की सम्भावना बहुत पूर्व ही होनी चाहिए थी। यह सर्व-विदित ही है कि उत्तर भारत वैष्णव भक्ति की भावना से कोई शून्य न था। महमूद गजनवी से लेकर आगे की कम-से-कम पाँच शताब्दियों तक पुराने मंदिरों और उनके मूर्त्तियों के तोड़ने की अनेक घटनाएँ जो इतिहास के पृष्ठों में अंकित हैं, वे उत्तर में दक्षिण की भाँति ही धार्मिक परम्परा की द्योतक हैं। हिन्दी भक्ति-साहित्य की परम्परा का रामानन्द के पश्चात् प्राप्त उक्त सांस्कृतिक चेतना का ही एकमात्र परिणाम थी, जिसका अनेक कालदर्शी युगपुरुषों तथा भक्त-कवियों ने प्रवर्त्तन किया। ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रवर्त्तन रामानन्द से आरम्भ होता है।

यदि हिन्दी के भक्तिकालीन काव्य का परीक्षण किया जाय तो निःसंकोच यह कहा जा सकता है कि वह उस युग की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, इन सभी परिस्थितियों से उत्पन्न समस्याओं का निराकरण प्रस्तुत करने वाली चेतना से अनुप्राणित है। निर्गुण और सगुण दोनों ही काव्य-धाराओं के कवियों ने कामिनी और कांचन की आसक्ति का विरोध तथा शील और सन्तोष की महत्ता पर जो बारम्बार बल दिया है, वह एक ऐसे दृष्टिकोण या जीवन-मूल्य की प्रतिष्ठा का द्योतन करता है जो उस युग के राजनीतिक तथा आर्थिक अत्याचारों के लिए सर्वथा उपयुक्त था। निर्गुण-काव्य में सामाजिक साम्य के विचारों का प्रचार तथा बाह्या-डम्बरों का जो विरोध दृष्टिगत होता है वह समकालीन सामाजिक विषमता की परिस्थितियों के अनुरूप थी। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'सूर-साहित्य' नामक ग्रंथ में (पृ० ४५-४८) सूरदास के एक पद को उद्धृत करके तत्कालीन समाज की जटिलता और विषम स्थिति के प्रति कवि की सजगता को इंगित किया है। तुलसीदास की रामकथा कहते-कहते लोगों को मुस्लिम दासता की सामन्तीय व्यवस्था से छूट जाने की बात कह कर आशा दिलाते हैं—

देव निसान बजावत गावत, छूटि गयो सामंतपनो भोरे। कवितावली, छन्द क्र० ५७

यह सामन्त प्रथा उनके समकालीन मुगल शासन की देन थी। प्रतीत होता है कि कवि सामन्तपन का मोह और भय को दूर करने के लिए यत्नशील है। तभी वह अन्यत्र भी कहता है—

हम चाकर रघुवीर के, पटौ लिख्यौ दरबार।
तुलसी अब का होंहिंगे, नर के मनसबदार॥

वस्तुतः आर्थिक अत्याचारों से पीड़ित जनता को भौतिक सुखाकांक्षा के प्रति किंचित् उदासीन करके उसमें नयी जीवन-शक्ति के संचार की आवश्यकता उस समय थी, और यह कार्य इन कवियों ने भक्ति की आड़ में अपनी वाणी के माध्यम से किया। अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आधार तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक इन सभी परिस्थितियों पर निर्भर करता है। क्योंकि सन्तों और भक्तों की वाणियों में प्रच्छन्न रूप से राजनीतिक संघर्ष का स्वर है और प्रत्यक्षतः आर्थिक, सामाजिक विषमता के निराकरण के लिए नए जीवन-मूल्यों का आग्रह भी है और साथ ही, नये परिवेश के अनुरूप पूर्ववर्ती भक्ति-चेतना का प्रचार-प्रसार सभी-कुछ है।

हमारे उपर्युक्त निष्कर्ष का यह तात्पर्य नहीं है कि भक्तिकालीन काव्य पूर्ववर्ती धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्परा से असम्बद्ध है। परम्परा के महत्त्वपूर्ण योग को हम प्रारम्भ में ही लक्ष्य कर चुके हैं। वास्तव में भक्ति-साहित्य का सम्बन्ध केवल दक्षिण के आलवार भक्तों और शास्त्रसिद्ध आचार्यों की परम्परा से जोड़ना अवश्य युक्तिसंगत नहीं है। यदि ऐतिहासिक प्राचीनता के कारण ऐसा माना जाय तो विद्वानों ने भक्ति का विकास वैदिक साहित्य से माना है। धार्मिक परम्परा के दृष्टिकोण से हिन्दी-भक्ति-काव्य का सम्बन्ध निम्नलिखित चार सूत्रों से जोड़ा जा सकता है—

१. पौराणिक धर्म के प्रति आस्था की दीर्घकालीन परम्परा जो कि पूरे देश में विद्यमान थी।

२. 'श्रीमद्भागवतपुराण' जिसका उत्तर और दक्षिण दोनों की धार्मिक विचारधारा पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा।

३. भारतीय धर्म-साधना की दीर्घकाल-व्यापी परम्परा।

४. दक्षिण के भक्तिमार्गी आचार्य।

भक्तिकालीन साहित्य द्वारा भारतीय संस्कृति का एक ऐसा पक्ष उभर कर आया है जो उसे पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों ही प्रकार के साहित्य से अलग करता है। आदर्श साधक के लिए सती के आदर्श की जो दुहाई सन्तकाव्य में सर्वत्र दी गयी है, वह उस युग की ऐतिहासिक परिस्थिति की उपज है। अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी का भक्तिकाल सम-कालीन ऐतिहासिक परिस्थिति तथा भारतीय साधना एवं चिन्ताधारा के तत्कालीन विकास दोनों का परिणाम है। यह निर्बल और हतदर्प अन्तःकरण की पुकार नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से दक्षिण की भक्त-परम्परा से इसे सम्बद्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु रामानन्द और कबीर आदि के स्वतंत्र-चेता व्यक्तित्त्वों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसी प्रकार वल्लभाचार्य जी विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की परम्परा में होते हुए भी एक सीमा तक भिन्न चेतना-प्रवृत्तियों को भी लिए हुए हैं। 'म्लेच्छाक्रान्त देशेषु कृष्णस्तु शरणंमम' में जो समकालीन विषम परिस्थिति के लिए पीड़ा है, वह परम्परा का अनुगमन मात्र नहीं है। चैतन्य मत का

भक्तिकाव्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है और धार्मिक चेतना के निर्माण में चैतन्य महाप्रभू तथा उनके पार्षदों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। कबीर, नानक, दादू आदि सन्त तो परम्परा-विरोधी ही थे और दूसरी ओर वे युगीन चेतना की देन ही नहीं, अपितु उसके सशक्त संवाहक और प्रवर्त्तक भी थे।

अतः यह निर्विवाद है कि हिन्दी के भक्तिकाल की पीठिका युगीन चेतना के सभी जीवन-पक्षों से सम्बद्ध एवं अनुप्राणित है और उसका किसी सीमित क्षेत्र या आस्थागत पक्ष से सम्बन्ध जोड़ना आंशिक सत्य का ही परिचायक कहा जायगा। युगीन चेतना की दृष्टि से भी उसके सीमांकन में आरम्भकाल को लगभग एक शताब्दी आगे बढ़ाना अधिक युक्तिसंगत होगा।

--मदनगोपाल गुप्त
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
बड़ौदा विश्वविद्यालय, बड़ौदा

नयी कविता के उप-कूल और प्रति-कूल

श्री विश्वम्भर 'मानव'

खड़ी बोली के काव्य ने प्रारम्भ में हमें अनेक महान् कवि दिए। द्विवेदी युग में जैसे अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त उल्लेखनीय हैं, वैसे ही प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी छायावाद के आलोक-स्तंभों में से हैं। किसी भी भाषा के काव्य में एक साथ इतने प्रकाश-पुंजों का उदित होना एक चकितकर घटना है। उत्तर-छायावाद-कालीन काव्य तीन धाराओं में विभक्त हो जाता है। इनमें से नवगीत, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के प्रमुख रचनाकारों में हम 'बच्चन', मुक्तिबोध और 'अज्ञेय' के नाम ले सकते हैं। इसके बाद का काव्य उतार का काव्य है। यह एक आश्चर्य का विषय है कि स्वतंत्रता की महान् घटना हमारे कवियों को कोई प्रेरणा प्रदान नहीं कर पायी, न वह कोई बड़ा कवि उत्पन्न कर पायी, यहाँ तक कि वह हिन्दी-कविता का कोई विभाजक रेखा तक नहीं बन पायी। ऐसा क्यों हुआ, इसके कारणों की खोज हिन्दी के किसी श्रेष्ठ आलोचक को करनी चाहिए। यहाँ मैं केवल एक तथ्य की ओर संकेत करना चाहता हूँ। इधर के कवियों की प्रेरणा के स्रोत प्रायः उमर खैयाम, मार्क्स, फ्रायड और सार्त्र रहे। इस प्रकार ये एक महान् परंपरा से कट गए। भारतीय संस्कृति के उत्तराधिकार से वंचित होने के कारण ये शून्यवत् हो गए। दूसरी ओर इनकी अपनी उपलब्धि कुछ रही नहीं। और अब ये इतने आगे बढ़ गए हैं कि अपनी परंपरा से जुड़ना बहुत कठिन है।

स्वतंत्रता के उपरांत नयी धाराओं के कवियों का काव्य द्वितीय श्रेणी का काव्य है। इनमें से कोई इतना बड़ा कवि भी नहीं है, जितने रामधारीसिंह 'दिनकर'। लेकिन द्वितीय श्रेणी का यह काव्य ही पिछले तीस वर्षों का प्रतिनिधित्व करता है। किसी महाकवि के अभाव में यहाँ-वहाँ बिखरे ये दर्जनों कवि सामूहिक रूप से अपने युग की समस्याओं और मनोग्रंथियों की छायाएँ हैं। इस युग के बाहरी संघर्ष और आंतरिक हलचल को समझने के लिए अब हमको किसी एक प्रतिभाशाली कवि की ओर दृष्टि न उठा कर, इन सभी के पास जाना होगा, इन्हें समझना होगा; नहीं तो हमारा अध्ययन एकांगी और अधूरा रहेगा।

अब कुछ विशिष्ट रचनाकारों की चर्चा करें।

नरेश मेहता

नरेश मेहता (१९२१) ने मुक्तक और प्रबंध दोनों क्षेत्रों में अपनी काव्य-कुशलता का परिचय दिया है। स्फुट विषयों में इनका मन सब से अधिक प्रकृति में रमता है। संध्या,

चाँदनी, वर्षा, मेघ, वन, पर्वत, समुद्र और घास पर लिखी इनकी रचनाएँ प्रकृति के वैभव और उसकी उदारता का आभास देती हैं। प्रकृति के साथ अपने अंतःकरण का सामंजस्य स्थापित करते हुए कवि एक प्रकार की शांति का अनुभव करता है। प्रेम में भी इन्होंने कृतज्ञ कोमल भावनाओं को व्यक्त किया है। वेदना का दंश स्मृति रूप में कहीं-कहीं पाया जाता है। संसार से भी क्षोभ के अनेक कारण हैं; पर नरेश मेहता की मूल प्रवृत्ति शिकायत या हाय-हाय करने की नहीं, अशांति का कारण उपस्थित होने पर, वहाँ से दूर चले जाने या निस्पृहता की है। ऐसा उनके स्वभाव की उदात्तता के कारण हुआ है। वे अनुभव तो तीव्रता से करते हैं; पर छोटी बातों पर संघर्ष मोल न लेकर पृथक् पथ का अनुसंधान कर लेते हैं—

हम झुकाकर माथ,
सब स्वीकार कर लेंगे ;
पर,—पथ यहाँ से अलग होता है।
राज-पथ रथ के लिए,
पग-बाट है पग के लिए,
सब मार्ग की अपनी दिशा, अपने क्षितिज,
हम क्या करें?
आग्रह करो मत, इस तुम्हारे द्वार को ही मान लें भगवान्—
यह जन,—यहाँ से अलग होता है!

नए कवियों में नरेश मेहता प्रकृति के विशिष्ट प्रेमियों में कुछ-कुछ वैसे ही स्मरण किए जायँगे जैसे छायावादियों में पंत। अपने समकालीनों में इन्होंने प्रकृति पर सबसे अधिक लिखा है। 'पल्लव'-काल में सुमित्रानंदन पंत की जैसी मनोवृत्ति रही होगी, वैसी ही नरेश मेहता की 'बोलने दो चीड़ को' के रचना-काल में रही है। अपने विस्तार में इन्होंने सम्पूर्ण प्रकृति को समेट लिया है। प्रारंभ में प्रकृति इन्हें अपने से पृथक् प्रतीत होती है और ये एक प्रकार की भावाकुलता का अनुभव करते हैं, जबकि पंत जी में कल्पनाशीलता अधिक है। 'बनपाखी सुनो' से लेकर 'मेरा समर्पित एकांत' तक आते-आते कवि प्रकृति और अपने में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव स्थापित कर लेता है। प्रकृति में पवित्रता का सबसे अधिक साक्षात्कार नरेश मेहता ने किया है और उसी तुलना में तन्मयता और प्रसन्नता का भी। नए प्रयोगों के आवेश में उन्होंने ढेर सारे विलक्षण और अनगढ़ उपमान भी जुटाए हैं; पर उनके अंतःकरण का मूल भाव उस समय प्रकट होता है, जब वे धूप को एक सिम्फनी बतलाते हैं या संध्या की तुलना किसी भिक्षुणी से करते हैं।

नरेश मेहता ने प्रणय-मूलक, ओजपूर्ण और प्रार्थना-परक कविताएँ भी लिखी हैं, जो सांकेतिक, प्रतीकात्मक और चिंतन-प्रधान होने के कारण काफ़ी परिपक्व कोटि की बन पड़ी हैं। प्रेम-संबंधी रचनाओं में कोमलता और स्वप्नशीलता बराबर बनी हुई है—

तुम यहाँ
बैठी हुई थीं अभी उस दिन।
गोमती तट,
शरद दुपहर के कपोलों पर उड़ी वह
धूप की लट।

बह गया वह नीर,
जिसको पदों से तुमने छुआ था;
कौन जाने,
धूप उस दिन की कहाँ है?

इनकी प्रारंभिक रचनाओं में 'समय देवता' एक उल्लेखनीय लंबी कविता है। इसकी एक विशेषता तो यह है कि नयी कविता में पहली बार सम्पूर्ण पृथ्वी को वर्णन का विषय बनाया गया है और कवि एक सार्वभौमिक प्राणी के रूप में हमारे सामने आता है। कविता द्वितीय विश्व-युद्ध की घटनाओं से प्रभावित होकर लिखी गयी है। उसमें कहीं-कहीं ऐतिहासिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और युगीन संदर्भों की ओर संकेत है; पर विभिन्न देशों की विशिष्टता को प्रदर्शित करने के लिए मेहता जी ने भौगोलिक परिस्थितियों का उल्लेख आवश्यकता से कुछ अधिक किया है। अतः विवरण की प्रधानता के कारण, इसका काव्यत्व उभर नहीं पाया। वैसे भी यह विषय इतना विशाल है कि एक प्रबंध-काव्य की माँग करता है—किसी एक लंबी कविता में नहीं समेटा जा सकता।

कवि को अत्यंत संवेदनशील हृदय प्राप्त हुआ है; पर अभिव्यक्ति में उसकी भाषा बड़ी भारी बाधा बनकर सामने खड़ी हो जाती है। हिन्दी में नरेश मेहता का अपना अलग व्याकरण चलता है। इनकी रचनाओं में डाको, भाँगो, उदयाये, अस्ताये, सम्मुखे, आकाशे, युद्धप्रियी, मीड़प्रियी आदि शब्द धारा के प्रवाह में ढोंकों के समान प्रायः मिलेंगे।

'संशय की एक रात' नरेश मेहता का एक पौराणिक काव्य-रूपक है। प्रसंग है राम-रावण युद्ध का। इसके नायक राम एक भाव-प्रवण कल्पनाशील प्राणी हैं। उनका हृदय एक कवि का हृदय है। वे समुद्र-तट की बालू पर सीता का चित्र अंकित करने वाले कोमलमना राम हैं। जीवन की विषम समस्याओं का समाधान वे युद्ध द्वारा नहीं, मनुष्य में जो श्रेष्ठतम है, उसे जगा कर करना चाहते हैं। क्या करें, क्या न करें, संशय की इस स्थिति में वे अनुक्षण हैं।

राम का संशय क्योंकि गहन और गंभीर है; अतः उसे मिटाने के लिए कवि पहले लक्ष्मण को लाता है; फिर दशरथ और जटायु की प्रेतात्माओं को। अंत में मंत्रणा-परिषद् में हनुमान इसे व्यक्तिगत समस्या न मान कर जन-विद्रोह की संज्ञा देते हैं और विभीषण युद्ध को जीवन की अनिवार्यता और प्राणी की नियति ठहराता है। परिणाम यह होता है कि राम बहुमत से प्रभावित होकर युद्ध करने का निश्चय करते हैं। अब यह राम का नहीं, जनता का युद्ध है। हमारी दृष्टि से, यहाँ श्री मेहता में पुराने प्रगतिवादी संस्कार उभर आये हैं।

इस प्रसंग के द्वारा कवि वर्तमान जीवन की जटिलताओं और समस्याओं को भी चित्रित करना चाहता है। युद्ध की समस्या तो एक चिरंतन समस्या है। बीच-बीच में विभाजित और खंडित व्यक्तित्व की चर्चा करके तथा द्विधा-ग्रस्त मन की बात उठा कर वह अपने युग से भी सम्बद्ध हो गया है। महाभारत से प्रसंग और युद्ध की समस्या को लेकर इसी प्रकार का एक काव्य-रूपक धर्मवीर भारती ने भी 'अंधा युग' नाम से लिखा है। लेकिन उनकी विचारधारा पर सार्त्र के अस्तित्ववाद का इतना गहरा प्रभाव है कि कृष्ण और अन्य सत् पात्र बहुत हीन रूप में हमारे सामने आते हैं। मान्यताओं की दृष्टि से नरेश मेहता की 'संशय की एक रात' अधिक स्वस्थ दृष्टि की परिचायक कृति है। इस समस्या-मूलक चिंतन-प्रधान काव्य-रूपक में भावना, विचार और कला तीनों की अभिव्यक्ति काफी संयमित ढंग से हुई है।

जैसे 'संशय की एक रात' का कथानक रामायण से उठाया गया है, वैसे ही 'महाप्रस्थान' का महाभारत से। इस आख्यान में पाण्डवों के हिमालय में गलने की प्रसिद्ध कथा वर्णित है। इसमें दो ही पात्र प्रमुख हैं—युधिष्ठिर और द्रौपदी। युधिष्ठिर एक चिंतनशील प्राणी हैं। वे मानव-जाति के समस्त संकटों की जड़ राज्य को घोषित करते हैं। राज्य धर्म का विरोधी है, वह युद्ध को जन्म देता है और व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण करता है। इस प्रकार इस रचना के द्वारा शासन-व्यवस्था का विरोध ध्वनित होता है। युधिष्ठिर पर गांधीवाद का गहरा प्रभाव पाया जाता है। द्रौपदी में भाव की प्रधानता है। गलने से पूर्व जब वह यह कहती है कि उसका नारीत्व भी व्यर्थ गया और मातृत्व भी, तब पाठकों के हृदय को गहरा आघात लगता है। कृष्ण और उसके बीच प्रच्छन्न कोमल भाव की स्थापना मेहता जी की अपनी कल्पना की उड़ान है। यह रचना विचार और संवेदनलशीता, दोनों दृष्टियों से पठनीय है। 'महाप्रस्थान' का मूल भाव निर्वेद है। इसमें हिमालय की विराटता और पवित्रता के अनुभूति-परक दृश्य काफ़ी चित्रात्मक, प्रतीकात्मक और रम्य बन पड़े हैं। पंत जी के समान नरेश मेहता का हृदय भी प्रकृति के सम्पर्क में आकर कुछ अधिक खुलता है।

लक्ष्मीकांत वर्मा

लक्ष्मीकांत वर्मा (१९२२) व्यक्ति की निजता पर सबसे अधिक बल देने वाले कलाकार हैं। वे समय की अनुगूंज न बनकर अपने मौलिक व्यक्तित्त्व की रक्षा करना चाहते हैं, चाहे इसके लिए कितना ही बड़ा त्याग उन्हें करना पड़े। यह उनका महत् संकल्प है। अपनी इस विजता को लेकर ही वे समाज से जुड़े हैं। आज के अभावग्रस्त जीवन की विषमताओं और कटुताओं से वे परिचित हैं। अतः निम्न वर्ग और निम्न मध्य वर्ग में जो भी जहाँ पिसता है, उसके प्रति उनकी पूरी सहानुभूति है। इस विशाल समूह के व्यवित को वे 'लघु मानव' कहते हैं। यह मानव विवश है, पराजित है, हताश है। वह केवल सहन कर सकता है, सामना नहीं कर सकता। इतिहास के निर्मम रथ-चक्र के नीचे वह कुचल गया है। अपनी रचनाओं में घर की ग़रीबी का जो वर्णन कवि ने किया है, वह संवेदनशील पाठक के अंतःकरण को विचलित

करने वाला है। इस प्रकार लक्ष्मीकांत वर्मा आधुनिक युग का सुदामा-चरित्र लिखने वाले दूसरे नरोत्तमदास हैं।

स्वातंत्र्योत्तर-काल के रचनाकारों में इनकी तुलना यदि किसी से की जा सकती है, तो मुक्तिबोध से। मुक्तिबोध के समान प्रतिबद्ध न होने के कारण संघर्ष की कमी तो इनमें पायी जाती है, नहीं तो गरीबी को वरण करने की कामना, छोटे लोगों के प्रति गहरी आत्मीयता, टूटने पर भी व्यवस्था से समझौता न करने की दृढ़ता, अनुपम धैर्य और सहनशीलता के साथ जन-हित के लिए चेतना की छटपटाहट, मिजाज़ की कड़ुवाहट और मन का घना विषाद तथा कला में बिखराव सब कुछ वैसा ही है।

कवि जीवन के विष को पूरे-का-पूरा स्वयं पी गया है; अतः उसके हृदय में किसी के प्रति घृणा नहीं पायी जाती। पायी जाती है सहानुभूति, कोमलता, करुणा और मंगल-कामना। मनुष्य लक्ष्मीकांत की कविता का एक व्यापक विषय ही है। अपनी रचनाओं में उन्होंने उसके विविध रूपों को पहचाना है। करुणा से विगलित क्षणों में उन्होंने भावी पीढ़ी के मंगलमय भविष्य की कामना की है। कहीं-कहीं उद्‌बोधन भी है। पर सबसे कोमल वे रचनाएँ हैं जो 'अपने आत्मज से' शीर्षक के अंतर्गत लिखी गयी हैं। इनमें 'पिता रस' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वात्सल्य-भाव की इन कविताओं में सूरदास का अनिर्वचनीय स्नेह और 'निराला' की कातर असमर्थता पायी जाती है।

लक्ष्मीकांत ने कहीं-कहीं साधारण विचार को भी कविता का विषय बनाया है और 'ग़लत कविताएँ' नाम से व्यंग्य-विद्रूप की रचनाएँ लिखी हैं। ऐसा मन की अशांति के निकास और मानसिक तनाव को ढील देने के लिए हुआ है।

प्रयोगवादी ग्रूप में लक्ष्मीकांत वर्मा ने सबसे अधिक व्यापक विषयों को समेटा है। जब वे आवेश में आकर लिखते हैं, तो उनकी रचनाओं में चमक आ जाती है और प्रवाह रहता है। ऐसी रचनाएँ काफ़ी हैं। जहाँ उत्साहहीन मन से लिखा है, वहाँ ठंडापन पाया जाता है। ऐसी रचनाएं और भी अधिक हैं। अभिव्यक्ति में कसावट की कमी है। उपमान और प्रतीक पुराने भी हैं, नए भी और अपने गढ़े हुए भी। कथ्य इनका महत्त्वपूर्ण एवं कलाहीन है। इस दृष्टि से ये कबीर से तुलनीय हैं। कबीर के समान ये भी एक मुक्त व्यक्ति का आभास देते हैं—

> कवि मैं नहीं,
> क्योंकि मैं कोमलता से दूर कठोरता में जीता हूँ।
> जितना था तरल वह आँसुओं में बह गया।
> जितना था स्नेहिल वह विपर्ययों में चुस गया।
>
> मैं जो लिखता हूँ वह कविता नहीं है,
> वह है—
> जीना।

चला जा रहा हूँ मैं
अपरिचित लीक से पृथक् सही;
किंतु कहीं तपता, सीझता, उगता।

विजयदेवनारायण साही

विजयदेवनारायण साही गंभीर स्वभाव के व्यक्ति हैं और उनकी दृष्टि बहुत व्यापक है। अपनी रचनाओं का फलक बहुत विशाल रख कर अपने युग की समस्याओं और मन की उलझनों को उन्होंने विराट् परिवेश और पूरी गहराई में जा कर उभारा है। जिस 'तुम' को संबोधित करके ये रचनाएँ लिखी गयी हैं, हो सकता है कि वह कहीं कोई विशिष्ट व्यक्ति भी हो; लेकिन अधिकांश स्थलों पर एक भावक ही है। चिंतन-प्रधान होने के कारण इनकी कुछ श्रेष्ठ रचनाएँ देश-काल की परिधि के पार जाने का प्रयत्न करती हैं। जहाँ अनुभूति का कारण कोई निजी तनाव है, वहाँ भी उसे बृहत्तर संदर्भ में रख कर देखा गया है। अतः घटनाओं की क्षीणता और भावना की प्रधानता के कारण ये अधिक सूक्ष्म, व्यंजक और रसात्मक बन पड़ी हैं।

श्री साही अंतर्मुखी स्वभाव के व्यक्ति हैं और उनमें सौंदर्य की उजली चेतना निरंतर सजग रहती है। अतः जब वे युग की अनैतिकता, अव्यवस्था और इनके विरुद्ध अपनी बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी की बात करते हैं, तो पाठक के मन पर जैसी धारदार प्रतिक्रिया होनी चाहिए वैसी नहीं होती। वे न विद्रोही हैं, न प्रगतिशील, न क्रुद्ध, न क्षुब्ध, न संतप्त। केवल सुन्दर कविताओं के रचयिता हैं।

क्या मैं जाऊं उस पार ?
जहाँ ओसभरी घास रसीले होठों की तरह आभा देती है;
अकेला पीला फूल,
अनिश्चित चिड़िया की तरह,
पंख खोलकर रह जाता है,
उड़ता नहीं।

कला इनकी फैंटेसी की है। मुक्तिबोध ने जिसे खुरदरे रूप में प्रस्तुत किया, साही ने उसी को अतिशय कोमल बना दिया है। इसमें कहानी कहने का-सा तो आनंद अवश्य है; लेकिन कथन के विस्तार और ब्यौरों की अधिकता के कारण विषय के फैल जाने से उसके बिखरने का भय भी रहता है। इन कविताओं में अमीर ख़ुसरो से लेकर 'अज्ञेय' तक की टोन अनायास झंकार मारती है। कई भाषाओं के अध्येता होने के कारण प्रतीक ये कहीं से भी उठा लेते हैं। कहीं अग्निकुंड, सुनहरे हिरन और कमल की चर्चा है; कहीं खंजर, शराब और आवेहयात की; कहीं समुद्र, पनडुब्बी और मछली की; कहीं गुफ़ा, सुरंग और तिलस्म की; कहीं धनुष, तीर और मरे पक्षी की। साही की कठिनाई यही है कि वे ज़रूरत से ज़्यादा जानते हैं।

बेशक मैं उन लोगों में से हो गया हूँ,
जिनके पास करने को कुछ भी नहीं,
सोचने को बहुत है।

कुछ भी हो, इनके विषय महत्त्वपूर्ण हैं, चिंतन में कोमलता और संवेदनशीलता है तथा संस्कारों में सुरुचि और कमनीयता। लेकिन इन सबको घेरे हुए एक प्रकार की अनिर्दिष्टता, अस्पष्टता एवं रहस्यमयता भी है। अतः इनके संबंध में निश्चित रूप से अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

तुम हमारा ज़िक्र इतिहासों में
नहीं पाओगे--
और न उस कराह का,
जो तुमने आज रात सुनी;
क्योंकि हमने अपने को
इतिहासों के विरुद्ध दे दिया है:
लेकिन जहाँ तुम्हें इतिहासों में
छूटी हुई जगहें दिखें,
और दबी हुई चीख का एहसास हो,
समझना हम वहाँ मौजूद थे।

रघुवीर सहाय

रघुवीर सहाय (१९२९) की प्रारंभिक कविताओं में एक मध्यवर्गीय व्यक्ति अपने परिवेश से प्रभावित होकर, अपनी आंतरिक इच्छाओं और वृत्तियों का विश्लेषण करता है। इनमें अपने अभावों की चर्चा के साथ समाज में व्याप्त कष्ट से उत्पन्न करुणा भी है। इस व्यथा ने कवि को अभिजात वर्ग के विरुद्ध कर दिया है और उसके मन में यह बात समा गयी है कि व्यक्ति और समाज के दुःख का निवारण व्यवस्था के विरोध से होगा। यह वेदना उसे एक दृष्टि प्रदान करती है और वह अपने से बाहर निकल कर व्यापक जीवन के सम्पर्क में आता है। 'सीढ़ियों पर धूप में' सम्मिलित रचनाओं की यही सार्थकता है।

'आत्म-हत्या के विरुद्ध' में राजनीतिक दृष्टिकोण प्रमुखता ग्रहण करता है। ये कविताएँ कवि ने भारतीय नागरिक को संबोधित करके लिखी हैं। वह शासन से भी असंतुष्ट है और मतदाता से भी। मुसद्दीलाल और मैकू इन्हीं के प्रतिनिधि हैं। इतना होने पर भी रघुवीर सहाय जनता के कवि नहीं बन पाए। कारण यह है कि उनकी रचनाओं में शक्ति का बड़ा भारी अभाव है। कवि के अंतर की घुटन पाठक के मन में भी एक घुटन को ही जन्म देती है, आक्रोश नहीं उत्पन्न करती। उनके स्वभाव की सीमा यह है कि शोषकों के साथ वे शोषितों को भी पसंद नहीं करते। इस प्रकार अभिजात वर्ग को दोषी ठहराते हुए वे स्वयं आभिजात्य के संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाए। इस पर, इन रचनाओं का कोई गंभीर अर्थ भी नहीं है, यहाँ तक कि इन्हें दोबारा पढ़ना कठिन है।

अभिव्यक्ति में श्री सहाय सरलता को प्रयोग का विषय बना कर चले हैं, अतः इनकी नियति भी वही है जो इस प्रकार के अन्य प्रयोगवादियों, जैसे भवानीप्रसाद मिश्र और अजितकुमार आदि की। भाषा बोलचाल के निकट आ गयी है और परिणाम यह हुआ है कि कवि को आय जाय, समाय घमाय, छटपटाय हाय, हिरदै होनी, पे, चहिए, देउता, ठाँव इत्यादि को खपाना पड़ा है। इस प्रकार शब्दों का फालतू प्रयोग इनकी रचनाओं में बहुत अखरता है।

(१)

अगर कहीं मैं तोता होता!
तोता होता तो क्या होता?
तोता होता।
होता तो फिर?
होता, 'फिर' क्या?
होता क्या? मैं तोता होता।
तोता तोता तोता तोता
तो तो तो तो ता ता ता ता
बोल पट्ठे सीता राम।

(२)

अब नहीं हो सकता कोई लेखक महान्।
पहले तो बाह्मन होंगे, फिर ठाकुर होंगे,
फिर बारी आयेगी चमारों की,
तब तक चमार कायथ न बन गए होंगे!

श्रीकांत वर्मा

श्रीकांत वर्मा (१९३१) उत्कट आकांक्षाओं के कवि हैं। जीवन की उलझनों के समाधान के लिए संभावनाओं पर बार-बार विचार करते हैं। संसार के संबंध में उनका अनुभव तीखा है। इसमें प्रेम-संबंधी तनाव भी सम्मिलित है। अतः जो उन्हें नापसंद है, उसे लेकर झुंझलाहट की भाषा में बात करते हैं। यह झुंझलाहट चैलेंज का रूप धारण करती है। चैलेंज कहीं प्रिय और कहीं कोरा नाटकीय लगता है। कुछ भी हो, इनका एक छोटा-सा निजी व्यक्तित्त्व है, निजी विचारधारा है, जीवन-यापन का निजी ढंग है।

इनकी रचनाओं में आधुनिक जीवन और महानगर का वातावरण बहुत उभर कर आया है। इस प्रसंग में दृश्यों, घटनाओं और भावनाओं का समवेत आकलन मार्मिक संवेदनशीलता का परिचायक है।

'जलसाघर' में प्रलाप शैली का प्रयोग है। इसमें असम्बद्ध बातों के बीच इतिहास, राजनीति, युद्ध, रंगभेद, परम्परा और आधुनिक योगियों के विरुद्ध बहुत-सी बातें कही गयी हैं। कहीं-कहीं फूहड़ शब्दों और अश्लील मुहावरों का प्रयोग खटकता है। लिखने के ढंग से ऐसा आभासित होता है जैसे संसार में चारों ओर इतना अन्याय और अत्याचार बढ़ गया है कि कवि अपना संतुलन खो बैठा है और इसी से वह बहकी-बहकी बातें कर रहा है। यदि इस तथ्य को भुला दिया जाय, तो रचनाएँ बड़ी अटपटी लगेंगी।

(१)

कुछ लोग मूर्त्तियाँ बनाकर
फिर
बेचेंगे क्रांति की (अथवा षड्‌यंत्र की)
कुछ और लोग
सारा समय
क़समें खायेंगे
लोकतंत्र की।

(२)

ग्रैंड ट्रंक रोड पर
लू में
चलते हुए
गिरते हैं
शेरशाह सूरी नहीं,
मुक्तिबोध।

कैलाश वाजपेयी

नयी पीढ़ी के कवियों में कैलाश वाजपेयी (१९३४) की स्थिति कुछ विलक्षण-सी है। काव्य में आधुनिकतम प्रवृत्तियों का जैसा परिचय इनकी रचनाओं से मिलता है, वैसा किसी दूसरे की रचनाओं से नहीं। पश्चिम के नवीनतम आंदोलनों का प्रभाव जैसा इन पर पड़ा है, वैसा किसी अन्य कवि पर नहीं। पश्चिम में जिसे 'अस्तित्ववाद' कहते हैं, उसे इन्होंने पूरी तरह आत्मसात् कर लिया है। अस्तित्ववादियों के समान इनकी दृष्टि में भी ईश्वर मर गया है; अतः ये जीवन के उन सभी मूल्यों को नकारते चले गए हैं, जिनका संबंध किसी प्रकार भी ईश्वर-विश्वास से है। जीवन में जो कुछ भी सत्य, शिव और सुन्दर है, उससे इन्होंने 'इनकार' किया है। अतः संसार, जीवन और मनुष्य का जो चित्र इन्होंने प्रस्तुत किया है, वह अरुचिकर और घिनौना है। इन्होंने एक स्थान पर कहा है—मैं नफ़रत के सूत्र से जुड़ा हुआ हूँ। इस

प्रकार इनके हृदय का मूल भाव घृणा है। इनकी कविता में विसंगति, संत्रास, ऊब और थकान का बार-बार उल्लेख हुआ है। संसार इन्हें फीका और भोंड़ा लगता है, जीवन दुर्गंध से पूर्ण। मनुष्य की तुलना कुत्ता, उल्लू, सुअर और कौवे आदि से करते हुए इन्होंने उसे बार-बार मूर्ख कहा है। समस्त रचनाओं में वीभत्स दृश्यों और वर्जित वस्तुओं की ऐसी भरमार है कि पाठक का 'जी घबराने लगता है। लाश, सड़ाँध, नाली, नाबदान आदि के प्रतीक इनकी रचनाओं में बिखरे पड़े हैं। कुल मिला कर संसार को इन्होंने एक पागलखाना और जीवन को नरक सिद्ध कर दिया है। जीवन में इन्हें किसी भी प्रकार की सुंदरता कहीं भी दिखायी नहीं देती। इस प्रकार 'देहान्त से हटकर' कुरूपता का एक भयंकर दस्तावेज़ है।

ऐसा नहीं है कि भारतीय जीवन में सभी कुछ सुंदर हो। हमारी अपनी सीमाएँ हैं, दुर्बलताएँ हैं, कमियाँ हैं और जब अन्य कवि व्यंग्य के माध्यम से अथवा प्रतीकों के सहारे उस ओर इंगित करते हैं, तो हमें बुरा भी नहीं लगता। लेकिन मानव-अस्तित्व को जिस अतिवादी रूप में इस ग्रंथ में चित्रित किया गया है, उसका हमारे देश, जीवन और परिस्थितियों से दूर का भी संबंध नहीं है। सारी बात इतने अतिरंजित रूप में कही गयी है कि अविश्वसनीय प्रतीत होती है।

'देहान्त से हटकर' नवीनतम कविता की प्रवृत्तियों में से कुछ का प्रतिनिधित्व करता है। इसके एक छोर पर 'अस्तित्ववाद' है, दूसरे पर 'अतियथार्थवाद' और बीच-बीच में अश्लीलता। एक-सी परिस्थितियों में रह कर भी, केवल दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण समकालीन कवियों का काव्य-विषय, टेकनीक और जीवन-दृष्टि के रूप में कितना भिन्न हो जाता है, यह हम इस काव्य-ग्रंथ को पढ़ कर समझ सकते हैं।

अमृता भारती

अमृता भारती (१९३७) शालीन संस्कारों से युक्त नयी पीढ़ी की एक उदीयमान कवयित्री हैं। इनके प्रथम काव्य-संग्रह का नाम है—'मैं तट पर हूँ'। रचनाएँ प्रायः व्यक्ति-परक हैं। अपने जीवन, वातावरण और मन के आंदोलन का चित्रण ही इन कविताओं का मुख्य विषय है; पर वह बहुत खुलकर नहीं हुआ है; अतः इनमें वे विकृतियाँ नहीं पायी जातीं जो आज के अस्तित्ववादी कवियों की रचनाओं में दिखायी देती हैं। यह एक शुभ लक्षण है। जीवन की जो माँग है, उससे ये परिचित तो हैं, उसकी स्वाभाविकता और उद्दामता को भी पहचानती हैं; पर रचनाओं में शरीर के स्थूल आवेगों के स्थान पर मन के सूक्ष्म स्पंदनों को व्यंजित करने की ओर आग्रह अधिक है। ये स्पंदन चिंतन के माध्यम से व्यक्त हुए हैं, इससे वे कुछ वायवी से हो गए हैं। इनमें भाव-प्रवणता तो है; पर तरलता नहीं, द्रवता नहीं। इनके आनंद के क्षण एक चिंतनशील युवती के आनंद के क्षण हैं। इनके जीवन की वेदना एक बुद्धिजीवी नारी की वेदना है। पाठक इनके सूक्ष्म संकेतों को समझता तो है; पर उनसे अभिभूत नहीं होता।

रचनाओं की मुख्य कृति रोमांटिक है। भूमिका में कवयित्री ने अपने प्रेम-भाव को बहुत मूल्यवान घोषित किया है। लेकिन जीवन का अनुभव कुल मिला कर सुखद नहीं प्रतीत

होता। आनंद के क्षणों के बाद एक प्रकार के सूनेपन की चर्चा हुई है। भीतर के इस रिक्त को भरने के लिए कहीं-कहीं अध्यात्म-तत्त्व के प्रति जिज्ञासा भी व्यक्त हुई है। ईसा और बुद्ध की करुणा के प्रति जो आस्था प्रकट की गयी है, वह तो जीवन की मान्यताओं के अंतर्गत आती है; पर कहीं-कहीं भीतर संवाद चलते रहने का उल्लेख है। इसे या तो निराशा का उदात्तीकरण कह सकते हैं या हो सकता है कवयित्री का झुकाव ही अलौकिक तत्त्व के प्रति हो गया हो।

इन रचनाओं में महानगर के वातावरण को चित्रित किया गया है। यह महानगर वम्बई है। बार-बार समुद्र और ताड़ कुंज, बँगला और वायलिन, कॉटेज और लॉन का उल्लेख हुआ है। प्रतीक प्रायः पुराने हैं—नदी और नौका, हंस और सरोवर, बादल और पंछी तथा कमल और गुलाब आदि के। साथ ही इंद्र और वृत्रासुर, वराह और कालियनाग तथा अम्बपाली और बुद्ध आदि के पौराणिक और ऐतिहासिक संदर्भ जुटाए गए हैं। कहीं-कहीं फैंटेसी का प्रयोग है। अभिव्यक्ति में अभी शब्दों की प्रधानता है, जो भावों को खोलने के स्थान पर उन्हें छिपाते अधिक हैं।

धूमिल

साठोत्तरी पीढ़ी के कवियों में स्वर्गीय धूमिल (१९३६-१९७५) ने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया था। इनकी कविताओं में राजनीतिक चेतना अत्यंत प्रखर है। स्वतंत्रता के उपरांत देश की गिरती दशा की ओर जनता का ध्यान आकर्षित कर उसे प्रबुद्ध करना इनकी रचनाओं का मुख्य उद्देश्य है। देश में व्याप्त भ्रष्टाचार से सभी क्षुब्ध रहे। यह क्षोभ किसी-न-किसी के द्वारा व्यक्त होना चाहिए था। धूमिल ने उसे तीखा बनाकर स्पष्ट भाषा में प्रकट किया है, इसी से इनकी वाणी कहीं-कहीं कटु होने पर भी प्रिय लगती है।

अपनी रचनाओं में कवि ने प्रजातंत्र के रंगीन धोखे तथा लाल-फ़ीताशाही के निकम्मेपन पर व्यंग्य करते हुए, देश में व्याप्त बेकारी, महँगाई, भूख और अकाल के लिए शासन को उत्तरदायी ठहराया है। इनके काव्य में शासकों की चतुराई और जनता के भोलेपन का उल्लेख भी स्थान-स्थान पर मिलता है। वर्तमान युग की भयंकर वास्तविकता के यथार्थवादी चित्र अंकित करने वाली ये रचनाएँ एक प्रकार की उत्तेजना और तनाव से पूर्ण हैं। व्यवस्था के विरुद्ध एक कवि जितना भी कह सकता है, उतना 'संसद से सड़क' तक में धूमिल ने कह दिया है। यह कथन रघुवीरसहाय के सभ्य व्यंग्य तथा नागार्जुन की साम्यवादी झुँझलाहट से कहीं अधिक सशक्त है, क्योंकि इसमें जनसाधारण का गहरा दुःख-दर्द निहित है।

धूमिल के इस काव्य-संग्रह की दो कविताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पहली है—मोचीराम। इसमें व्यक्ति और समाज के अंतर्विरोधों को व्यक्त करते हुए व्यंग्यात्मक लहजे में कुछ लोगों की दुर्बलताओं पर उँगली रख दी गयी है। दूसरी है—पटकथा। यह लंबी कविता स्वातंत्र्योत्तर-कालीन भारत की दुर्दशा का प्रामाणिक दस्तावेज़ है। स्वाधीनता के आलोक और उसके बाद के घोर अंधकार के बीच मानवता की क्रमशः हत्या की यह कहानी हमारे संशय, मोह-भंग और टूट कर बिखरने की करुण कहानी है। जीवन की एक डरावनी

शक्ल को प्रस्तुत करने वाली यह कविता राजनीति के बहुत निकट पहुँच गयी है। फिर भी यह कविता ही है, राजनीति नहीं, क्योंकि यह पाठकों के संवेदनों को जगाती है और उनकी चेतना को झकझोरती है। इस प्रकार धूमिल मूलतः आक्रोश और व्यंग्य के कवि हैं।

(१)

अपने यहाँ संसद
तेली की वह घानी है--
जिसमें आधा तेल है
और आधा पानी है।
और यदि यह सच नहीं है,
तो कहाँ एक ईमानदार आदमी को
अपनी ईमानदारी का मलाल क्यों है?
जिसने सत्य कह दिया है,
उसका बुरा हाल--क्यों है?

(२)

बीस साल बाद...
सुनसान गलियों से चोरों की तरह गुज़रते हुए
अपने आपसे सवाल करता हूँ--
क्या आज़ादी सिर्फ़ तीन थके हुए रंगों का नाम है
जिन्हें एक पहिया ढोता है
या इसका कोई ख़ास मतलब होता है?

●

सन्दर्भ-ग्रन्थ

बनपाखी सुनो, बोलने दो चीड़ को, मेरा समर्पित एकांत, संशय की एक रात, महाप्रस्थान, अतुकांत, आधुनिक कवि--१५, मछलीघर, सीढ़ियों पर धूप में, आत्म-हत्या के विरुद्ध, जलसाघर, देहात से हटकर, मैं तट पर हूँ, संसद से सड़क तक।

--८८८, कल्याणीदेवी
इलाहाबाद-३

कवि 'अंचल' और उनकी 'अनुपूर्वा'

डॉ० दुर्गाशंकर मिश्र

लगभग सत्रह वर्ष पूर्व हमने एक स्थल पर[1] श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' को सुपरिचित समीक्षक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी[2] के कथनानुसार क्रांतिदूत कहना अधिक उपयुक्त समझा था लेकिन हम अंचल को सौन्दर्य-तृष्णा, रूप-लालसा एवं प्रेम-प्यास का संदेश देने वाला क्रांतिदूत न मानकर नूतन अभियान का क्रांतिदूत ही मानते हैं।[3] यहाँ यह भी स्मरणीय है कि विचारक 'अंचल' की कविता का मूल्यांकन करते समय उनकी भावभूमि पर सुनिश्चित रूप से विचार करने की अपेक्षा अपना एक निजी प्रतिमान लेकर ही उनके सम्बन्ध में मत व्यक्त करने लगते हैं, अतः 'अंचल' की कविता के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है, उसमें परस्पर विरोधी धारणाएँ ही दृष्टिगोचर होती हैं। स्वयं वाजपेयी जी ने सन् १९३९ में 'अंचल' को घोर श्रृंगारी कवि माना है[4] और उनकी यह धारणा अपरिवर्तित ही रही तथा उन्होंने अपने निबंध संग्रह 'आधुनिक साहित्य' में भी 'अंचल' को मूलतः प्रकृतिवादी (Naturalist) ही कहा है[5] अतः इसका परिणाम यह हुआ कि न केवल उनके अधिकांश मतानुयायियों एवं शोध छात्रों ने 'अंचल' को व्यक्तिवादी कवि मानते हुए उनकी कविता में निराशावाद और भोगवाद का विकास ही सिद्ध

---

१. युग धर्म; दीपावली विशेषांक; सन् १९५९।

२. "रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' नवीन हिन्दी काव्य का एक क्रांतिदूत है।"
—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी—श्री नंददुलारे वाजपेयी; पृष्ठ १९६।

३. "अंचल को सौन्दर्य-तृष्णा, रूप-लालसा तथा प्रेम-प्यास का संदेश देने वाला क्रांतिदूत समझनेवाले विचारक वास्तव में भ्रम के शिकार ही कहे जाएँगे क्योंकि विराम चिह्न का कवि जीवन में विश्वास करता हुआ जर्जरता और पुरातनता के विरुद्ध क्रांति का संदेश देने वाला ही है अतः उसे नूतन अभियान का क्रांतिदूत मानना ही अधिक उचित होगा।"
—साहित्य साधना के सोपान—दुर्गाशंकर मिश्र; पृष्ठ ३४३-३४४

४. "क्रांति उसने की है, छायावाद की मानवीय किंतु अधिकांश अशरीरी सौंदर्य कल्पना के स्थान पर अपनी मांसल कृतियों द्वारा। छायावाद की सूक्ष्म उज्ज्वल मर्मस्पर्शिता के बदले अपने जीवंत रंगीनी द्वारा।"
—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी—श्री नंददुलारे वाजपेयी; पृ० १९६

५. आधुनिक साहित्य—श्री नंददुलारे वाजपेयी; पृष्ठ ६३।

किया[१] अपितु कुछ अन्य समीक्षकों ने भी 'अंचल' की कविता में केवल उद्दाम वासना के ही दर्शन किए हैं।[२] साथ ही ऐसे समीक्षकों की भी कुछ कमी नहीं है जो 'अंचल' की काव्य कृतियों में प्रगतिशील तत्त्व खोजने का प्रयास करते हुए उन्हें प्रगतिवादी कवि मानते हैं[३] और डॉ० केसरीनारायण शुक्ल[४], डॉ० रामयतन सिंह 'भ्रमर'[५] तथा डॉ० रामदरश मिश्र[६] आदि विचारकों के कथनानुसार 'अंचल' ने अपनी अनेक कविताओं से समाजवादी चेतना को अभिव्यक्ति दी है। इसी प्रकार डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने सन् १९५० में ही 'अंचल' के काव्य पर गांधीवाद, मार्क्सवाद एवं फ्रायडवाद का सम्मिलित प्रभाव स्वीकार किया था[७] और डॉ० रामकुमार वर्मा ने तो 'अंचल' को शाश्वत भावनाओं का कवि मानते हुए यही कहा है "हिन्दी के आलोचकों

---

१. "व्यक्तिवादी काव्यधारा में उत्तर छायावादी कवियों में रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' का नाम प्रमुख है. . .इनकी प्रधान विशेषता रूपासक्ति, अतिरिक्त आवेश तथा उन्माद से मुखरित हुई है। काव्य अधिकांश में यौवन के उद्दाम वेग, तृष्णा और अतृप्ति से परिचालित है।"

—आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका—डॉ० बलभद्र तिवारी; पृ० २८५

२. "अंचल के काव्य में यौन भावनाओं की अभिव्यक्ति उद्दाम रूप में हुई है।"

—हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास—डॉ० गणपतिचंद्र गुप्त; पृ० ७१८

और भी

". . .अंचल ने एक ऐसे वेग और बल का प्रमाण दिया जो उनका विशिष्ट अवदान बना। उनकी रचनाओं में यौवन की उद्दामता और प्रणय की उत्कट वासना की बड़ी ही मांसल और आग्रहपूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है।"

—डॉ० भारतभूषण अग्रवाल; हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (दशम भाग)—सं०—डॉ० नगेन्द्र; पृ० ३८०।

और भी—

"अंचल का काव्य, आत्मरति, मधुचर्या और खुले रोमांस से भरा है।"

—डॉ० शंभूनाथ सिंह; हिन्दी वाङ्मय : बीसवीं शती—सं० डॉ० नगेन्द्र; पृ० १२७

३. "किरण बेला में आकर अंचल की कविता में एक नये दृष्टिकोण की सूचना मिलती है और यह दृष्टिकोण प्रगतिवाद का है जिस पर मार्क्सवाद का प्रभाव है।"

—साहित्यानुशीलन—श्री शिवदानसिंह चौहान; पृ० २१४

४. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (चतुर्दश भाग)—सं० डॉ० हरवंशलाल शर्मा; पृ० ८

५. "जहाँ अंचल ने एक ओर जनमन को अपने प्रेम, विरह तथा स्थूल रूप चित्रण से आकर्षित किया वहाँ दूसरी ओर उनके सामाजिक दायित्व को भी उभारने की चेष्टा की है।"

—आधुनिक हिंदी कविता में चित्र विधान—डॉ० रामयतन सिंह, 'भ्रमर', पृ० २७१

६. हिन्दी साहित्य का इतिहास—सं० डॉ० नगेन्द्र; पृष्ठ ६२७।

७. आलोचना तथा काव्य—डॉ० इन्द्रनाथ मदान; पृ० ७१।

ने 'अंचल' को प्रगतिशील कवि के नाम से पुकारा है। मैं तो देखता हूँ कि 'अंचल' आधुनिक रूप में कहलाने वाले प्रगतिशील कवियों से बहुत भिन्न हैं। उनमें मूलतः वे ही प्रेरणाएँ हैं, जो स्थायी कवित्ववाले कवि में होती हैं और जिनमें सौन्दर्यान्विषण की, ललित सृष्टि की, प्रेम और घृणा के शाश्वत भावों की मात्रा यथेष्ट रूप से विद्यमान है। युगकालीन संस्कार भले ही 'अंचल' से दो-चार कवितायें आधुनिक प्रगतिशीलता की लिखा लें तथापि इन कविताओं में 'अंचल' की आत्मा उस गहराई से अपने को स्पष्ट नहीं करती, जिस गहराई से वह प्रकृति या मानवीय सुख और दुःख में प्रकट होती है।"[1]

उक्त विभिन्न धारणाओं के कारण ही हमारे समीक्षक अभी तक कवि अंचल के सम्बन्ध में सर्वमान्य धारणा निर्धारित करने में असफल रहे हैं और आज जब कि अंचल की काव्य-साधना को चार दशक से अधिक समय हो चुका है[2] तब भी उनके सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। इसका मूल कारण यह है कि विचारक कवि अंचल की विकास स्थितियों का सम्यक् अनुशीलन किए बिना ही उनके सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त कर देते हैं और स्वयं वाजपेयी जी ने यह संकेत किया था "नवीनता के नाम पर जो-जो वाद आविर्भूत हुए हैं और चल रहे हैं, वे सब-के-सब वास्तविक काव्य सृष्टि के हेतु नहीं हो रहे हैं, तथा कहीं-कहीं तो शुष्कवाद मात्र सिद्ध होते हैं। कहीं-कहीं यह भी देखा जाता है कि कविगण अपनी प्रकृति और स्वाभाविक प्रतिभा का अनादर कर नए क्षेत्र में आगंतुक (Foreigner) बन जाते हैं। जिस व्यक्ति को अत्यावश्यक काव्यानुभूति और कला की अभिज्ञता नहीं है वह किसी भी प्रगतिशील वाद का सहारा लेकर कुछ कर नहीं सकता। इन आरंभिक अनुकथनों के बाद मैं यह कहूँगा कि अंचल इन अपवादों से ऊपर है, वह किसी वाद की नियोजना नहीं कर रहा, केवल काव्य कर रहा है।"[3] सत्य तो यह है कि वाजपेयी जी के इस कथन पर ध्यान न देने के कारण ही समीक्षक 'अंचल' को छायावादी, प्रगतिवादी एवं व्यक्तिवादी सिद्ध करने लगते हैं अन्यथा हम तो डॉ० विनयमोहन शर्मा[4] की भाँति किसी भी कवि एवं काव्य-कृति का अनुशीलन करते समय अपनी दृष्टि वादग्रस्त होने से बचाने के पक्ष में हैं। इस प्रकार डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' के कथनानुसार "कवि पंत की तरह 'अंचल' जी भी किसी वाद से बँध कर चलने वाले नहीं हैं। युग और समाज की आवश्य-

---

१. साहित्य साधना के सोपान—दुर्गाशंकर मिश्र; पृ० ३३८-३३९ पर उद्धृत।

२. "मेरी सर्वप्रथम रचना 'उस क्षण' थी जिसे माधुरी के संपादक ने इतना पसंद किया कि मुखपृष्ठ पर सन् १९३२ में उसे प्रकाशित किया था।"

—आधुनिक कवि (भाग ११)—अंचल, भूमिका; पृ० ८

३. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी—श्री नंददुलारे वाजपेयी; पृ० १९६।

४. "एक बात का मैंने यत्न अवश्य किया है कि साहित्य के अवलोकन में अपनी दृष्टि को वाद ग्रस्त होने से बचाया है। अनुभूति के सहज प्रकाश को साहित्य की कसौटी मान कर उसका रसास्वादन करना मेरा ध्येय रहा है।"

—साहित्यावलोकन—डॉ० विनयमोहन शर्मा; दृष्टि क्षेप; पृ० ४

कताओं के अनुकूल मानव हितकारी किसी भी दार्शनिक विचारधारा को आत्मसात् करना और अपनी सौंदर्योपासना की सार्थकता के लिए उसे अनुभूति का अंग बना कर व्यक्त कर देना ही उनका लक्ष्य है।"[१]

वस्तुत: अधिकांश प्राचीन भारतीय विचारकों की दृष्टि में कवि का प्रधान कार्य वर्णन करना ही है और राजशेखर के मतानुसार कवि शब्द की निष्पत्ति 'कवृ वर्णे' धातु से हुई है तथा उन्होंने कवि का अर्थ वर्णनकर्त्ता ही माना है तथा मम्मट की 'लोकोत्तर वर्णनानिपुणं कवि कर्म' उक्ति के अनुसार काव्य लोकोत्तर वर्णन में निपुण कवि का कर्म ही है। इसी प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त के विद्यागुरु भट्टतौत ने भी कवि को 'वर्णन निपुण' कहा है पर वह यह भी मानते हैं कि 'कवि अऋषि नहीं होता बल्कि ऋषि ही होता है।' उनका विचार है कि कवि दर्शनयुक्त होने के कारण ही ऋषि कहलाता है और कवि में दर्शन के साथ वर्णन का मंजुल संयोग रहता है तथा दर्शन कवि का आंतरिक गुण और वर्णन बाह्य गुण है। इस प्रकार भट्टतौत दर्शन एवं वर्णन का सम्मिश्रण ही काव्य कला के चरम विकास की आधारपीठ समझते हैं[२] और कवि को सृष्टि-नियंता से भी अधिक महत्वपूर्ण मानते हुए कहा जाता है कि ब्रह्मा तो अपने सृष्टि कार्य में स्वतंत्र न होकर प्राणियों के क्रमानुसार ही सृष्टि रचना में प्रवृत्त होता है पर कवि अपनी सृष्टि में नितांत स्वतंत्र होने के कारण उसकी रुचि जिस ओर आकृष्ट होती है वह उधर ही उन्मुख हो उठता है।[३] अतएव काव्य का क्षेत्र किसी भी दृष्टि से संकुचित नहीं है और हमारे प्राचीन आचार्यों ने तो कवि के लिए मनुष्य प्रकृति एवं शास्त्रसम्मत समग्र विषयों का ज्ञान आवश्यक माना है[४] तथा पाश्चात्य विचारक प्लेटो ने तो कवियों की तुलना भ्रमरों से

---

१. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'--डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'; जीवनी; पृ० ९।

२. नानृषिः कविरित्युक्तं ऋषिश्च किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्॥
स तत्त्व दर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनात् वर्णनाच्चाथ रूढ़ा लोके कविश्रुतिः॥
तथाहि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥

—काव्यानुशासन : हेमचन्द्र; पृ० ३१६ में उद्धृत

३. अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

—ध्वन्यालोक

४. श्रुतीनां सांगशाखानामितिहासपुराणयोः।
अर्थग्रंथः कथाभ्यासः कवित्वस्यैकमौषधम्॥

—काव्य मीमांसा

करते हुए कहा है—'For a poet is indeed a thing ethreally light, winged and sacred, not can be compose any thing worth calling poetry until he becomes inspired, and as it were, mad or whilst any reason remains within him.' हमारे इस विवेचन का अभिप्राय यह है कि कवि सहज ही प्रगतिशील प्रगतिवादी नहीं—होता है और सत्य तो यह है कि "कोई भी वैयक्तिक या सामाजिक अनुभूति—वर्गगत तथा जातिगत जीवन की कोई भी झलक—कोई भी भावात्मक प्रेरणा काव्य से परे नहीं है और वह जीवन की सुंदरताओं एवं कुरूपताओं का उद्घाटन करती है। इतना अवश्य है कि अभिव्यक्ति का स्तर कहीं भी हल्का न हो और उसमें रसात्मकता अवश्य विद्यमान हो। कविता में वैयक्तिक अनुभव और सामाजिक या जातीय अनुभव दोनों ही पाए जाते हैं तथा अनुभूति की उच्च भूमि पर पहुँचने पर दोनों का अंगभूत समन्वय हो जाता है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही हम अंचल की काव्यधारा की अंतरात्मा तक पहुँच सकते हैं क्योंकि उनकी कविता केवल अपनी अभिव्यक्ति की प्रेरणा की पूर्त्ति का साधनमात्र नहीं है अपितु वह सामाजिक आयोजनों और परिवर्तित होती हुई जीवन स्थितियों को बल पहुँचाने का एक सशक्त साधन भी है। वस्तुतः कविता में एकमात्र विचार और स्थूल मतवादी मान्यताओं को देने से ही काम नहीं चलता, अपितु उसमें आंतरिक समन्वय भी आवश्यक है।"[1] अतएव इस पीठिका को ध्यान में रखकर ही अंचल के काव्य कृतित्व का मूल्यांकन करना समीचीन होगा।

आज से लगभग छह वर्ष पूर्व सन् १९७० में कवि अंचल की दसवीं काव्य कृति 'अनुपूर्वा' प्रकाशित हुई और इसके पूर्व उनके निम्नलिखित काव्य संकलन प्रकाशित हो चुके हैं—मधूलिका (सन् १९३८), अपराजिता (सन् १९३९), किरण बेला (सन् १९४१), करील (सन् १९४२), लाल चूनर (सन् १९४४), वर्षान्त के बादल (सन् १९५४), विराम चिह्न (सन् १९५७), प्राथमिका (सन् १९६०) और प्रत्यूष की भटकी किरण यायावरी (सन् १९६४)। साथ ही आधुनिक कवि (भाग ११), हिन्दी के लोकप्रिय कवि रामेश्वर शुक्ल अंचल और कवि श्री माला अंचल आदि काव्य संकलनों में भी केवल अंचल की ही कविताओं का चारु चयन हुआ है। इस प्रकार कवि अंचल की काव्य कृतियों का प्रकाशन सन् १९३८ से सन् १९७० तक अनवरत रूप से होता रहा है और 'अनुपूर्वा' के प्रकाशन ने उन समीक्षकों को—जिन्होंने कि कवि अंचल की विराम चिह्न का मूल्यांकन करते समय यह धारणा व्यक्त की थी कि विराम चिह्न का संभवतः यही अभिप्राय है कि कवि अब काव्यक्षेत्र से सर्वदा के लिए विराम लेना चाहता है—यह स्पष्ट कर दिया है कि अंचल अभी भी विकासपथ पर अग्रसर हैं। न तो प्रशंसात्मक समीक्षकों ने उनकी लेखनी को शिथिल कर दिया और न विरोधी आलोचकों ने उनकी प्रगति को अवरुद्ध करने में ही सफलता पाई। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि राजशेखर ने जो प्रतिभा भेद के अनुसार कवि के सारस्वत, आभ्यासिक एवं औपदेशिक नामक तीन प्रकार मानते हुए श्यामदेव का यह मत उद्धृत करते हुए कि सारस्वत कवि इन तीनों में मूर्द्धन्य होता है क्योंकि वह

---

१. साहित्य साधना के सोपान—दुर्गाशंकर मिश्र; पृ० ३३९।

अपने विषय में स्वतंत्र रहता है,[१] उसे सर्वश्रेष्ठ कवि या कविराज माना है जो कि उक्त तीनों गुणों से युक्त हों।[२] अतः यदि हम मधूलिका से लेकर अनुपूर्वा तक अंचल के काव्य विकास का अनुशीलन करें तो हम राजशेखर से सहमत हो उन्हें भी सहज ही कविराज मान सकते हैं लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अंचल की कविताएँ उपदेशात्मक हैं या स्वयं अंचल अभ्यास के बल पर कवि कर्म में प्रवृत्त हुए हैं क्योंकि हम तो उन्हें सहज स्वाभाविक कवि ही मानते हैं।[३]

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो 'अंचल' जी विगत चार दशकों से अविराम गति से लिख रहे हैं और आधुनिक कविता में उनका योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण भी है तथा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली उनकी नवीनतम कविताओं से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अनुपूर्वा के पश्चात् शीघ्र ही उनकी कोई अन्य काव्य कृति भी प्रकाशित होगी। अतएव राजशेखर के मत का आधार ले कर यहाँ यह कहा जा सकता है कि कवि अंचल की इस दीर्घकालीन साधना को, जिसमें कि काव्य-सौष्ठव के साथ-साथ उपादेयता भी है, लक्ष्य कर हमारे समीक्षकों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम 'अंचल' को श्रेष्ठतम कवि मान कर उन्हें आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में समुचित स्थान प्रदान करें; न कि पूर्व निर्धारित दृष्टि से उनकी समीक्षा करते हुए किसी धारा-विशेष के कवियों के मध्य उन्हें स्थान प्रदान कर, उनका कवि महत्त्व विस्मरण कर दें; जैसा कि बहुधा देखने में आता है। हर्ष की बात है कि आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने आज से लगभग सैंतीस वर्ष पूर्व ही यह संकेत कर दिया था कि अंचल की कई युगान्तकारी कविताएँ भगवतीचरण वर्मा, बच्चन और अज्ञेय आदि कवियों की अपेक्षा पहले प्रकाश में आयी थीं[४] लेकिन उनके इस कथन की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया। इस प्रकार

---

१. 'तेषां पूर्वः पूर्वः श्रेयान्' इति श्यामदेवः। यतः—
सारस्वतः स्वतंत्रः स्याद् भवेदाभ्यासिको मतः।
उपदेशकविस्त्वत्र वल्गु फल्गु च जल्पति।।
—काव्य मीमांसा; अध्याय ४; पृ० १३

२. "उत्कर्षः श्रेयान्' इति यायावरीयः। स चानेके गुणसन्निपाते भवति किंच-
बुद्धिमत्त्वं च काव्यांगविघास्वभ्यासकर्म च।
कवेश्चोपनिषच्छक्तिस्त्रयमेकत्र दुर्लभम्।।
काव्यकाव्यांगविधासु कृताभ्यासस्य धीमतः।
मंत्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता।।
—वही; पृ० १३

३. मूल्यांकन और निरूपण—दुर्गाशंकर मिश्र; पृ० १९४।

४. "सत्य की रक्षा के लिए यहाँ यह कहना आवश्यक है कि अंचल के कुछ पहले ही एक बौद्धिक हलचल छायावाद के कतिपय सीमांतों में उठ चुकी थी। उनमें से एक महादेवी जी वर्मा के काव्य की चित्रात्मकता के रूप में परिणत हो गई।...दूसरी हलचल भगवती चरण जी वर्मा की दुःखात्मक मादकता बन कर रह गई। बहुत पीछे वही कलकत्ते की ट्राम और

कवि अंचल की सराहनीय काव्य-प्रगति के सम्बन्ध में डॉ० कृष्णनंदन 'पीयूष' ने कुछ वर्षों पूर्व उचित ही कहा था "आज जब अंचल के साथ चलने वाले अधिकांश कवि झपकियाँ लेकर पुराने टूटे तारों को जोड़ने का विफल प्रयास कर रहे हैं, अंचल नई जमीन पर पाँव रखते हुए आगे बढ़ते जा रहे हैं, यह संतोष की बात है।"[1] वास्तव में अंचल की इस सफलता का मूल कारण यह है कि उनमें प्रारंभ से ही एक अप्रतिम प्रतिभाशाली कलाकार की निर्द्वन्द्विता का स्वर मिलता है और उनमें प्रगति पथ पर अग्रसर होने की अदम्य लालसा भी रही है। कवि 'अंचल' की काव्य कृति 'विरामचिह्न' में संकलित 'जीवन नौका' में उनका जीवन-दर्शन स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त भी हुआ है; देखिए—

मैंने तुमसे अब तक मंगल कवच न कोई माँगा,
पल भर को भी कोई अनुनय भाव न मन में जागा।
उठे तुम्हारे शाप गरज कर जीवन में दल के दल,
रहा मुझे प्रतिक्षण ही अपनी तन्मयता का संबल।
मेरे वज्र हृदय के ये संकल्प न कभी रुकेंगे,
तूफानी झंझा में दो पतवार न कभी रुकेंगे।
नौका लहरों से टकराये पाल न कभी झुकेंगे।

वस्तुतः 'अनुपूर्वा' में कवि अंचल की निम्नलिखित छियालिस कविताएँ संकलित हैं—अभी तक, मध्याह्न, नारी, शांति पर्व, सुलगती धूपदानी-सी अबोली दीप्त दोपहरी, चैत की रात, शरद की साँझ, अब न आओ याद, तुम और मैं, फिर अकारण. . ., अजन्मे गीत का क्रन्दन, प्रतिदान, जी भर कर संताप मुझे दो, ढलती रात, दिग्दर्शी शिशिराकाश नवल, अपने ही मधुराये मन का स्वाद, आओ लौट चलें, वही आवाज दो, क्यों, प्रत्यागता नर्तकी आधी रात, कुछ यही . . ., मेरा विप्रलब्ध विश्वास, फूल ये वन मोगरे, नवसृजन के पंख दे दो, क्यों अकारण ही . . ., तुम और मैं, प्रज्ञाशिल्पी, ओ अबाधता के मतवाले, विस्मय, तोड़ो तोड़ो, देवा चौथ, तुम दीपक मैं बाती, मधुगीत, काल बैसाखी, भूल मेरी क्या, मैं अप्रस्तुत . . ., भूल जाने दे, चाँदनी अँसुआ उठी, तुम, एक शाम, दोष मेरा क्या ?, क्या पलातक प्राण के बीजाणु सारे चुक गये, नाम तुम्हारा मिला दिया, जान पाया सिर्फ, कोई सुनता है और ओ गीतों के याचक ! साथ ही 'अनुपूर्वा' के प्रारंभ में 'पूर्वाभास' शीर्षक से लगभग ग्यारह पृष्ठों की प्रस्तावना भी अंचल ने प्रस्तुत की है और वह एक ओर तो उनके चिंतन-मनन का परिचय देती है तथा दूसरी ओर सम-सामयिक काव्यधारा का रेखाचित्र अंकित कर कवि के निजी दृष्टिकोण का परिचय

भैंसागाड़ी के रूप में प्रकट हुई। अंचल इसके कई वर्ष पूर्व 'कनक रेणुका रानी' की समाधि पर अपने तृष्णा गान गाने लगा था। हरिवंशराय बच्चन तब तक अज्ञात थे और अज्ञेय अविज्ञात थे।"

—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी : श्री नंददुलारे वाजपेयी; पृ० २०५-२०६

१. चिंतन : अनुचिंतन—डॉ० कृष्णनंदन पीयूष; पृ० ४०।

देने में भी समर्थ रही है। इस 'पूर्वाभास' के प्रारंभ में ही 'अंचल' ने कहा है "अनुपूर्वा पिछले पाँच-छह वर्षों में लिखी गयी मेरी कुछ कविताओं का संकलन है, जो मेरे ही शैथिल्य के कारण विलंब से प्रकाशित हो रहा है। आज जब हिन्दी कविता अधिकांश रूप में बोध से अबोध रचना से अरचना, शिल्प से अशिल्प और कविता से अकविता की ओर तीव्र गति से जा रही है, मेरी इन कविताओं की क्या गति होगी जो पुराने भावगत और रूपगत मूल्यों को एकनिष्ठ सच्चाई से पकड़े हुए हैं; यह मैं नहीं कह सकता। समसामयिक काव्य में बहुत कुछ ऐसा आ गया है, जो संभवतः कविता शब्द से व्यक्त नहीं हो रहा है।"[१] इस 'पूर्वाभास' में अंचल ने यह भी संकेत किया है कि नयी कविता में किस प्रकार आत्मान्वेषण की प्रवृत्ति और सब से अलग अपने को अंकित कर जाने की निजस्व प्रेरणा है तथा उसमें वक्तव्यबाजी या आत्म प्रचार का मसीहाई, उपदेशी परायापन भी काफी देखने में आता है। स्वयं अंचल का मत है "जीवन और प्रकृति के, अपने समस्त भावानुभावों के संश्लिष्ट चित्र उतारने की पद्धति आज भले ही पुरानी लगती हो किन्तु उसके सहज सौंदर्य को भलीभाँति अनुभव किया जा सकता है। कविता का मूल स्वभाव संश्लेषण है, विश्लेषण तो शैली मात्र है, जो अधिक-से-अधिक, उसे एक नपी-तुली, कटी-छँटी सुडौलता प्रदान करता है।"[२] अंचल कवि सत्य को सीमित और लघु मानवीय नहीं मानते क्योंकि "कवि का व्यक्तिगत अर्जित सत्य हो कर भी वह विश्व मन और विश्व प्रकृति की पूर्णतम, महत् यथार्थ सत्ता से अलग नहीं है . . .। कवि सत्य व्यक्ति की अनुभूति को अबोधता से मंडित कर यथार्थ को विराट्, अखंड और अभेद के संदर्भ में देखकर उसे आत्मसात् करना, जीना और जिलाना, गुँजना और गुँजाना ही तो है।"[३] साथ ही अंचल का यह भी कहना है कि "इन कविताओं में पाठक को क्या मिलेगा, क्या नहीं, यह मैं नहीं जानता। इसकी पूर्ण कल्पना या योजना करके इनकी रचना नहीं हुई है, पर इनमें लघुता से बृहत्तर आशय की ओर बढ़ने की प्रेरणा और प्रवृत्ति अवश्य है, जिसे मैं अपने परम्परा बोध का प्रतिफल मानता हूँ।"[४]

उक्त विचारधारा से यह अनुमान तो सहज ही हो जाता है कि कवि अंचल की काव्ययात्रा का यह नूतन सोपान 'अनुपूर्वा' निर्विवाद रूप से उनकी काव्य-साधना के नवीन मोड़ की ओर संकेत करता है। अतएव "इस संग्रह तक आते-आते अंचल की कविता प्रौढ़ता और परिणति की शीर्षस्थ सरणियों पर आ गई है। प्रकृति का मानव मन के साथ, उसकी प्राण-प्रेरक जिजीविषा के साथ ऐसा गहरा तादात्म्य जो कवि मन के धूसर विषाद बोध से लेकर आकाश के कालातीत खुलेपन और धरती के गूढ़ गर्भ आच्छादन तक जुड़ा हुआ है, इन कविताओं की सब से बड़ी उपलब्धि है।"[५] विचारपूर्वक देखा जाय तो 'अनुपूर्वा' की अधिकांश-

१. अनुपूर्वा—अंचल; पूर्वाभास; पृष्ठ ३।
२. वही; पृष्ठ ३-४।
३. वही; पृष्ठ ४।
४. वही; पृष्ठ ४।
५. वही; फ्लेप से उद्धृत।

कविताएं प्रकृति विषयक ही हैं और अभी तक मध्याह्न, सुलगती धूपदानी-सी अबोली दीप्त दोपहरी, चैत की रात, शरद की साँझ, फिर अकारण. . ., ढलती रात, दिग्दर्शी शिशिराकाश नवल, अपने ही मधुराये मन का स्वाद, प्रत्यागता नर्तकी आधी रात, फूल वन मोगरे, नव सृजन के पंख दे दो, क्यों अकारण ही. . ., ओ अबाधता के मतवाले मधुगीत, काल बैसाखी, मैं अप्रस्तुत. . ., चाँदनी अँसुआ उठी, एक शाम क्या पलातक प्राण के बीजाणु सारे चुक गए आदि कविताओं में प्रकृति के सर्वथा अनूठे, नवीन एवं मनोमुग्धकारी चित्र अंकित किए गए हैं।[1] प्रायः आधुनिक हिन्दी कवियों में श्री सुमित्रानंदन पंत के प्रकृति चित्रण को ही विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता है और स्वयं पंत जी ने अपनी काव्य प्रेरणाओं में प्रकृति को सर्वप्रमुख स्थान प्रदान किया है[2] लेकिन 'युगान्त' के पश्चात् पंत जी शनैः-शनैः प्रकृति से दूर होते चले गए। ठीक इसके विपरीत अंचल की मधूलिका से लेकर अनुपूर्वा तक की कविताओं में प्रकृति के प्रति कवि का सहज आकर्षण विद्यमान रहा है और अपने समसामयिक कवियों की अपेक्षा 'अंचल' की रुझान प्रकृति चित्रण की ओर अधिक रही है। केवल परिमाण की दृष्टि से ही नहीं, वैशिष्ट्यता एवं कलात्मकता की दृष्टि से भी 'अंचल' के प्रकृति चित्रों में एक प्रकार का अद्भुत आकर्षण है और नवीनता, मधुरता एवं प्रभविष्णुता की दृष्टि से भी उन्हें हिन्दी कविता की स्थायी सम्पत्ति कहा जा सकता है। इस कथन की पुष्टि हेतु यहाँ 'अनुपूर्वा' से एक लघु चित्र प्रस्तुत करना असंगत न होगा—

चाँदनी अँसुआ उठी पिछले पहर
रंग खिलौनों का उतरता जा रहा
बुझ रहा आकाश, गिरि शिशिरा रहा
हंसमाला धुल गयी वातास में
ज्योति का कंकाल बहता आ रहा
फिर प्रतीक्षा भीत सरिता की लहर।

---

१. उदाहरणार्थ—
रुपहली धूप की पकती फसल फैली पड़ी कट कर
घुंघरता धान में हरिताभ किरणों का कुँवारा तन
शिशिर की शस्यवासित हंस पंख गीतमी लय में
ढला जाता धने सरिता दुकूलों का उनींदापन
विभा की झील में तिरते बुझे निष्प्रभ क्षितिज जागे
अडूबी अनमनी गिरिपंखियों की पाँत चमकाकर
बधूकों के रुँधे आलोक के समवेत रंगों में
झलक देता शरद का पारदर्शी गंध गुंजित मन

२. शिल्प और दर्शन—श्री सुमित्रा नन्दन पंत; पृष्ठ ३६।

सामान्यतया विचारक 'अंचल' की कविता का मूल तत्त्व रोटी और रोमांस मानते हैं[१] पर रोटी शब्द से 'अंचल' का अभिप्राय उन सम्पूर्ण भौतिक उपादानों से है, जिनसे जीवन का बाह्य कलेवर बनता है और रोमांस साहसिकता से युक्त प्रणय के लिए प्रयुक्त हुआ है लेकिन कवि अंचल लैला मजनू और शीरी फरहाद की फारसी पद्धति के प्रेम का समर्थन नहीं करते बल्कि वह तो उस प्रेम के कवि हैं, जो कि रासो काव्यों में मिलता है और भारतीय प्रेम ही है। इसीलिए वह प्रेमिका की वेणी को सजाने के लिए आकाश से नील कुसुम लाने की बात भले ही कहें पर श्री नरेन्द्र शर्मा के सदृश यह नहीं कहते कि 'पार वैतरणी करूँगा नाम मैं लेकर तुम्हारा।'[२] वास्तव में अंचल प्रेम की अमरता एवं स्थिरता के गायक रहे हैं और उनकी कविता में दर्द एवं ओज का समन्वित स्वर भी मिलता है तथा उनका यह भी कहना है कि "आज के एक प्रमुख आलोचक ने मेरी काव्यगत मानसिक प्रक्रिया को विरह साधन का नाम दिया है। सत्य यह है कि साधना की चेतना लेकर मैं कभी नहीं चला। मैंने केवल स्मृतियों के गीत गाए हैं।[३]" इस प्रकार स्मृतियों के कुछ आकर्षक चित्र अनूपूर्वा में भी दीख पड़ते हैं और उनमें वेदना का स्वाभाविक चित्रण भी हुआ है तथा कवि यही कहता है—

> जी भर कर संताप मुझे दो, मैं सब दिन पीता जाऊँ
> फिर भी गीत तुम्हारी स्तब्ध अजन्मी करुणा के गाऊँ
> लगने दो तन मन के सहने की अंतिम सीमा आई
> लिपटी रहने दो हर सपने से संकट की परछाईं
> जीभर अंतर्दाह मुझे दो मैं अविचल सहता जाऊँ
> भँवरों के इस महागर्त में बिना धँसे बहता जाऊँ

वस्तुतः 'किरण वेला' और 'करील' नामक कविता संग्रहों में संकलित कविताओं में ही अंचल व्यक्तिगत सुख-दुःख को विस्मरण कर समाज, देश एवं जनता के क्षत-विक्षत घावों पर मरहम लगाने के संकल्प से आगे बढ़ते हुए जान पड़ते हैं लेकिन मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित होते हुए भी वह अपनी प्रगतिशील रचनाओं में मार्क्सवादी विचारधारा का कट्टर समर्थन नहीं करते। इतना ही नहीं 'करील' के दो वर्ष पश्चात् प्रकाशित 'लालचूनर' में अंचल ने प्रगतिवादी संकीर्णता और उसकी अंधी दासता पर करारा व्यंग्य भी किया है पर इसका परिणाम यह हुआ कि मार्क्सवादी समीक्षकों ने अंचल को पथभ्रष्ट एवं अवसरवादी कहना प्रारंभ कर दिया लेकिन 'लाल चूनर' अंचल की पथभ्रष्टता का उदाहरण न होकर उनकी प्रगति का द्योतक है। स्वयं अंचल का तो कविता के सम्बन्ध में यही मत है "अपने हृदय के भावों, आवेगों, प्रवेगों और जीवन की आंतरिक एवं बाह्य परिस्थितियों के संघर्ष के फलस्वरूप

---

१. चिंतन : अनुचिंतन—डॉ० कृष्णनंदन पीयूष; पृष्ठ ३१।
२. प्रवासी के गीत—श्री नरेन्द्र शर्मा।
३. आधुनिक कवि (भाग ११)—अंचल; भूमिका; पृष्ठ ११।

उठने-गिरने वाली भावनाओं और क्रिया-प्रक्रियाओं की ईमानदार अभिव्यक्ति का नाम कविता है।"[1] इसीलिए 'अंचल' मार्क्स और अरविंद दोनों से ही समान रूप में प्रभावित हुए हैं[2] तथा उनकी 'विराम चिह्न' इस तथ्य का परिचायक है कि वह अब तृष्णा, लालसा एवं उद्दाम वासना का चित्रण करने वाले कवि नहीं रहे बल्कि जीवन संघर्ष के पथ पर दृढ़तापूर्वक अग्रसर हो रहे हैं।[3] इस प्रकार 'अनुपूर्वा' की कविताओं में सामाजिक चेतना के स्वर भी विद्यमान हैं और कवि युद्ध आदि संहारकारी प्रवृत्तियों का विरोधी तथा मानवता का समर्थक भी जान पड़ता है[4] और आज की नारी से यही कामना करता है—

रागिनी सी कामिनी तुम क्रांति के नव स्वर निकालो;
छोड़कर जादूगरी संघर्ष के ये दिन सँभालो।

वस्तुतः किसी भी कवि या काव्य कृति का मूल्यांकन करते समय भाव योजना के साथ-साथ कला पक्ष पर भी अनिवार्य रूप से विचार किया जाता है और फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक फ्लाबर्ट (Flaubert) की दृष्टि में शब्द एवं अर्थ का मंजुल सामंजस्य ही काव्य का प्राण है।[5] अतएव 'अनुपूर्वा' की कलागत विशेषताओं का मूल्यांकन करते समय हमारा ध्यान

---

१. आधुनिक कवि (भाग ११)—अंचल; भूमिका; पृष्ठ ७।

२. "मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और अरविन्द के सांस्कृतिक सौन्दर्यवाद दोनों ने मुझे प्रभावित किया है।" —वही; पृष्ठ २२

३. "कवि ने विराम चिह्न नाम रखकर विचारकों को यह स्पष्ट कर देना चाहा है कि वह अब जीवन संघर्ष के पथ पर अवतीर्ण हो कर्म एवं संघर्ष को ही प्रधानता देना चाहता है।"
—साहित्य साधना के सोपान : दुर्गाशंकर मिश्र; पृष्ठ ३४४

४. उदाहरणार्थ; 'शांति पर्व' की निम्नलिखित पंक्तियाँ दर्शनीय हैं—

ओ हिंसा के सौदागर, अपनी दूकान उठा लो!
शांति पर्व है, भागो भागो घृणा बेचने वालो!

× × ×

खोलो अपना खीमा, भागो ओ वस्साब गुनाही
मानव का मनुजत्व एक है, सब जीवन के राही
सबकी आँखों में जगमग हो रहा प्रेम का सपना
सबके सुख में हम सुख पाते, सबका मातम अपना
मत बेचो भय और बैर की ध्वंस-भरी फुफकारें!
बंद करो अब महाप्रलय की ये विकराल पुकारें!

......इत्यादि

५. There are no beautiful thought, without beautiful forms and conversely. As it is impossible to extract from a physical

सर्वप्रथम कवि अंचल के इस कथन की ओर जाता है "छंदमयी होकर भी ये कवितायें काव्य की रूढ़ रूपगत प्रतिबद्धताओं को छोड़ कर संदर्भ विहीन आशयों से मुक्त कथ्य के सौंदर्य को अपनाये हैं। संगीत और लयमयता को त्यागने से ही भाषा और अभिव्यक्ति में रागात्मक निस्संगता नहीं आ जाती। मेरी पीढ़ी के जो कवि इस प्रकार के प्रयोग कर अपने को नये कवियों में परिगणित कराने का साहित्यिक प्रयास करते हैं, वे भूल जाते हैं कि प्रत्येक कवि की अपनी निजी भावप्रवणता होती है जो आसानी से नहीं बदलती।...पुराना भाव बोध और भाव कथ्य भी बिम्बों और प्रभावों के नये आयामों से गुजरने पर नवीनवत् गतिशील हो जाता है।...काव्य शिल्प को मैं कोई ऊपर से ओढ़ी हुई वस्तु या कवि कौशल द्वारा ऊपर से पहनायी गयी विशेषता नहीं मानता। कथ्य में नये बिम्बों के संवहन की जैसी जितनी क्षमता होती है, वैसा-वैसा वह बनता और रूपायित होता है।...आज नये प्रतीकों की नितान्त अर्थहीन (भले ही चमत्कारी) खोज का फैशन चल पड़ा है। इससे तो पुराने प्रतीकों की उज्ज्वल व्यंजना का तप्त आलोक अधिक प्राणद लगता है जो कथ्य को नितान्त वैयक्तिक और दुरूह न बना कर उसे साधारणीकृत बनाता है।"[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कवि अंचल की 'अनुपूर्वा' में संकलित कवितायें पूर्वाग्रह मुक्त ऐसे कवि की कविताएँ हैं जो ईमानदारी से अपने से बाहर निकल कर सौंदर्य और चेतना के नये पुराने सभी आयामों में रमना चाहता है। इस प्रकार 'अनुपूर्वा' की कविताओं में प्रतीकों का प्रयोग अवश्य हुआ है पर नवीन अर्थहीन प्रतीकों की योजना का दुराग्रह नहीं है और कवि 'अंचल' ने संस्कृतनिष्ठ एवम् लोकनिष्ठ भाषा के प्रति अपनी रुझान प्रकट करते हुए भी[2] बहुधा अपनी काव्यभाषा को सरलता, यथार्थता एवं लोकरुचि की जीवनभूमि पर स्थापित भी किया है।[3] साथ ही अंचल जी का यह भी कहना है कि "कविता के लिए चित्र भाषा का

---

body. The qualities that really constitute it—colour, extension and the like—without reducing it to a hallow abstraction, in a word, without destroying it; just so it is impossible to detach the form from the idia; for the idea exists by virtue of the form,

१. अनुपूर्वा—अंचल; पूर्वाभास; पृष्ठ ६-१३।

२. "अनुपूर्वा में संकलित मेरी कविताएँ आधुनिक अभिव्यंजनाओं के लिए यदि अधिक संस्कृतनिष्ठ और लोकनिष्ठ भाषा ढूंढ़ती हैं तो यह न केवल स्वाभाविक है...।"

—वही; पृष्ठ ८।

३. उदाहरणार्थ—

मेरी जनम जनम की गति की, तुम अविनश्वर उज्ज्वलता
युगों युगों से मँजते मेरे मन की निर्मल सुन्दरता
तुम्हें पुकारूँ स्वर में ऐसी तन्मयता की सांस कहाँ
फिर भी तुम्हें बुलाने का सुख प्रतिक्षण होठों में जलता

प्रयोग कविता की मनोमोहकता का एक अपरिहार्य तत्त्व है। जैसे-जैसे कवि-चेतना के आगे नये क्षितिज खुलते हैं और मन की परतें उघड़ती हैं, वैसे-वैसे कवि की चित्र भाषा समृद्ध होती है। प्रेरणा और परिणति के नये-नये स्वरूप उसे नये-से-नये प्रतीकों और बिम्बों का सामर्थ्य प्रदान करते हैं। आधुनिकता के प्रति नये जागरूक और सही अर्थों में आस्थावान होने पर भी मैं चित्र भाषा को किसी प्रकार के पिछड़ेपन का द्योतक नहीं मानता। यह चित्र यदि रंगों की विविधता से आगे बढ़ कर सूक्ष्मता या सुषुमित छाया प्रभावों को लेकर चलते हैं तो उनमें व्यक्त दृश्य और भी तीव्र हो उठता है।"[1] यह कथन अंचल की कविता के प्रति पूर्णतया सत्य प्रमाणित होता है और 'अनुपूर्वा' में संकलित कविताओं में हमें भाषा शैली की स्वाभाविकता, रागात्मकता, चित्रात्मकता, संगीतात्मकता एवं प्रतीकात्मकता आदि विशेषताएँ अपने बिखरे हुए रूप में ही दृष्टिगोचर होती हैं। यहाँ एक उदाहरण दर्शनीय है—

भीगे मंद्र स्वरों में झलमल करता आशय का गोरा जल,
झुक आया है मेरी छत पर सुख का नया चंद्रमा श्यामल !
मन सरिता के बिंधे कूल सा, तिरती जिस पर छांह गगन की
तन जामुन के फूले बन सा, घेरे बाँहें नीलेपन की !
धुरवा के पंखों पर से ओ संध्या को तरसाने वाले !
रंगों की संगीत भरी लपटों से नींद चुराने वाले !

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि 'अनुपूर्वा' के रचयिता कवि अंचल को क्रांतिदूत मानना ही उपयुक्त होगा और अपनी इस नवीनतम काव्यकृति द्वारा उन्होंने प्रसिद्ध विचारक डॉ० नगेन्द्र के उस संशय का निवारण भी किया है, जिसका उल्लेख करते हुए कुछ वर्षों पूर्व नगेन्द्र जी ने कहा था "अंचल के आवेश और कल्पना दोनों में वेग है। पर उनको स्थिरता प्रदान करने वाली बौद्धिक शक्ति उनके पास कम है। इसीलिए भावगत कविताओं एवं अंतर्गीतियों की अपेक्षा उनकी वस्तुगत कविताएँ, जिनमें वस्तु की रूपरेखा और सीमाएँ निश्चित होने के कारण स्थैर्य आप-से-आप वर्तमान रहता है, कहीं अधिक सफल और रसलीन हैं।"[2] अतएव यहाँ निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि "अंचल हिन्दी के उन कवियों में हैं जो बिना किसी प्रयोग रूपी दलदल में पड़े अपनी मंजिल की राह पर सतत बढ़ते गए हैं।"[3] इसके लिए यदि उन्हें निराशा की सघन रजनी का सामना भी करना पड़ा है तो उन्होंने आस्था के सूर्य को अस्त नहीं होने दिया और जहाँ कि हिन्दी के कई शीर्षस्थ काव्यकार भी अपनी धारा को साँप की केंचुल की भाँति बदलने का प्रयास कर रहे हैं वहाँ 'अंचल' की 'अनुपूर्वा' का प्रकाशन हिन्दी काव्य जगत् में एक प्रकार की अविस्मरणीय और उल्लेखनीय घटना ही है।

—प्रोफेसर एवं अध्यक्ष—हिन्दी विभाग,
पी० डब्ल्यू० एस० महाविद्यालय, कामठी रोड; नागपुर–१७

---

१. अनुपूर्वा—अंचल; पूर्वाभास; पृष्ठ ९-१०।
२. विचार और अनुभूति—डॉ० नगेन्द्र; पृष्ठ ८३।
३. चिंतन-अनुचिंतन—डॉ० कृष्णनंदन पीयूष; पृष्ठ ४१।

तेलुगु में नीतिकाव्य का विकास

डॉ० को० शिवसत्यनारायण

नीति और उपदेश से हमारी सांस्कृतिक परंपरा पर्याप्त संपन्न है। तेलुगु साहित्य के अधिकांश कवियों की रचनाओं में नीति-उपदेश संबंधी विषय का विस्तार से परिचय मिलता है। तेलुगु के नीति-कवियों में दो श्रेणियाँ हैं। एक तो वे हैं जो प्रमुख रूप से नीति के कवि हैं। उनमें 'वेमना', 'बद्धेना', 'सिंगना', 'कवि चौडप्पा' आदि प्रमुख हैं। दूसरे वे हैं—जिनके ग्रंथों में प्रसंगवश नीति तत्त्व का समावेश हुआ है—कवित्रय, पोतना, पेद्दना, श्री कृष्णदेव-राय आदि।

तेलुगु साहित्य के सात सौ वर्षों में नीतिकाव्य का जो क्रमिक विकास हुआ है—उसकी संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है—

१. भाषांतरीकरण युग या पुराण युग।
२. प्रबंध युग या स्वतंत्र काव्य रचना युग।
३. ह्रास युग या शतक काव्य रचना युग।

भाषांतरीकरण युग पुनः चार भागों में विभाज्य है—

१. पौराणिक काव्यधारा में नीति।
२. वीर शैव काव्यधारा में नीति।
३. राम काव्यधारा में नीति।
४. नीति मुक्तक धारा।

पौराणिक काव्यधारा

'कवित्रय' का महाभारत तेलुगु का महाप्रबंध एवं आदि काव्य माना जाता है। उस समय महाभारत का प्रणयन धर्म-प्रचार, धर्म-रक्षा एवं सांस्कृतिक उत्थान, इन तीन लक्ष्यों को लेकर हुआ था। नन्नया, तिक्कना तथा रारीप्रेगडा तीनों से प्रणीत महाभारत की कथावस्तु में कितनी ही ऐसी आख्यायिकाएँ प्रयुक्त हैं, जिनसे कोई-न-कोई नीति तथा शिक्षा मिलती ही है। उनकी प्रत्येक सूक्ति कर्णहार ही नहीं, मनोहर भी है। वह एक साथ धर्मशास्त्र, वेदांत, नीतिशास्त्र, इतिहास और पुराण है। एक वाक्य में कहना है तो—यन्न भारते, तन्न भारते' है। भारतग्रंथ में जो विषय नहीं है वह कहीं नहीं है। महाभारत शैली में कई अन्य पुराण,

काव्यानुवाद किए गए हैं—विष्णु पुराण, कूर्म पुराण, मत्स्य पुराण, वायु पुराण, वराह पुराण, मार्कण्डेय पुराण, नृसिंह पुराण, पद्म पुराण, गरुड़ पुराण आदि मुख्य हैं। धौकम्य नीति, विदुर नीति, भीष्म-संदेश, विदुला का उपाख्यान आदि तो नीतियों के लिए निधि ही हैं।

आंध्र प्रदेश में कथावाचक इन पुराण काव्यों के आधार पर गाँव-गाँव में कथा प्रवचन करते दिखाई देते हैं। इन पुराणों से सदाचार की उत्तम शिक्षा मिलती है, धर्म मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थों की साधना करते हुए जीवन व्यतीत करने का उत्तम संदेश मिलता है। नीति की विभिन्न बातों पर स्थान-स्थान पर प्रकाश डाला गया है।

२. वीरशैव काव्य धारा में नीति

इस धारा में वामन पुराण का नाम स्मरणीय है। उन दिनों समाज में शैव और ब्राह्मण धर्मों के विरुद्ध वीर शैव धर्म का प्रचलन हुआ। सोमनाथ शक विप्लवकारी साहित्य के उन्नायक थे। इनके काव्य में समाज में जितनी बुराइयाँ थीं, उनका खंडन, चित्त-शुद्धि, मन की शुद्धि, दृढ़ता; सत्य भाषण, शिव की महत्ता, सदाचार परायणता आदि नैतिक विषयों का विस्तार मिलता है। इस धारा में 'अन्नमय्या' आदि आते हैं। नीति के अनेक तत्त्व इनके काव्यों में उपलब्ध होते हैं। इन लोगों ने आडंबरहीनता पर विशेष बल दिया है।

३. राम काव्य धारा में नीति

रंगनाथ रामायण, भास्कर रामायण आदि ग्रंथों में राम के जीवन से संबंधित कई विषय हैं, जिनसे उत्तम-से-उत्तम शिक्षा मिलती है। इन रामकाव्यों में नीति तत्त्व का सुंदर प्रतिपादन हुआ है।

४. नीति मुक्तक काव्य धारा

बद्देना, सोमनाथ, प्रतापरुद्र, अप्पन मंत्री, आंध्र भोज, मारना, मंचेना, सिंगना आदि कई नीतिकारों ने नीति की रचनाओं के द्वारा राजनीति की शिक्षा के साथ लोक नीति की उत्तम शिक्षा दी है।

नवीन विषय

पौराणिक नीति तत्त्व पिष्टपेषण मात्र नहीं है। उसमें मानव-जीवन की सफलता अक्षय कीर्ति की प्राप्ति में, न कि केवल मोक्ष व आत्मसाक्षात्कार में, स्वाधीनता की रक्षा, पराधीनता, महादुःखदायक, कौटुंबिक जीवन की प्रशस्तता, कायरता के कलंक से परिवार की रक्षा, प्रियजन के प्रस्थान पर अश्रुपात का अनौचित्य, पिता के उपकार के प्रति प्रतिशोध लेना पुत्रों का प्रथम कर्तव्य, माता द्वारा गर्भस्थ शिशुओं को वीरता की शिक्षा देना, वीर

माता की श्रेष्ठता, पुत्री के लिए सापत्न्य सबसे बड़ा दुःख, शरणागत की रक्षा आदि कई नैतिक तथ्यों का प्रतिपादन हुआ है।

रामकाव्य पर संस्कृत के रामकाव्यों का प्रभाव स्पष्ट है। साथ ही नवीन विषयों को भी स्थान मिला है। रंगनाथ रामायण में नवीन प्रसंग इस प्रकार है—

१. मंथरा का राम से वैर—जिसके कारण वह कैकेयी को कुमंत्रणा देती है।
२. शूर्पणखा के पुत्र जंबुमाली का वृत्तांत।
३. कालनेमि का वृत्तांत।
४. सुलोचना का वृत्तांत।
५. रावण को उसकी माता का उपदेश।
६. रावण द्वारा रामचंद्र की प्रशंसा।
७. मंदोदरी का अपने पति को उपदेश।
८. लक्ष्मण की हँसी।
९. उर्मिला की नींद आदि।

जहाँ तक तेलुगु के रामकाव्य का संबंध है उसमें पूर्णतया मौलिकता का अभाव नहीं है। वस्तुतः वह संस्कृत की वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्म रामायण, हनुमन्नाटक आदि धर्म-ग्रंथों तथा काव्य-ग्रंथों के आधार पर ही प्रणीत है। अतः उसमें धर्मशास्त्र संबंधी कई बातों का प्रभाव स्पष्ट रूप में दिखाई देता है।

रामकाव्यों में माता-पिता के प्रति अत्यंत श्रद्धा, आज्ञापालन, सत्यवादिता, पातिव्रत और पत्नीव्रत-धर्म की रक्षा, भातृप्रेम, वधू-स्नेह, वनवास-दुःख, अच्छे मंत्रियों के लक्षण और कर्त्तव्य, शरणागत की रक्षा, रामकथा का महत्त्व, रामनाम की उत्कृष्टता, विप्र, गौ, गुरु का महत्त्व, धर्म और नीतिमार्गावलंबन की प्रशस्तता आदि उत्तमोत्तम नीतियों का उपदेश राम-कथा के माध्यम से दिया गया है। धर्मशास्त्रीय नीति में नदियों, तीर्थों और पुण्य-स्थलों के प्रतिपादन पर बल दिया गया है।

उपेक्षित विषय

पौराणिक काव्यों में उदर-पूर्ति के दूषण, परनारी-कामना की निंदा, पर धनापेक्षा की निंदा, मद्य, मांस और मधु-सेवन की निंदा, जप, तप, शम, दम, दया, क्षमा, धर्म, नीति, चरित्र आदि की प्रशंसा तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की निंदा, विद्या का महत्त्व, विद्या प्राप्ति के विघ्न, यौवन की निंदा, पुराण श्रवण की महत्ता, पौराणिकों का आदर, बौद्ध तथा जैन आदि मतों का खंडन, कर्मकाण्ड की उत्कृष्टता पर बल दिया गया है।

नीतिकाव्यों में राजधर्म के विविध कर्त्तव्यों के साथ मंत्री के कर्त्तव्य, अर्थनीति, दण्डनीति आदि विषयों के वर्णन के साथ लोक व्यवहारोपयोगी नीति की सुंदर विवेचना हुई है। इस युग में नीति के जिन विषयों पर लिखा गया है, उन विषयों का प्रभाव आगे के नीति कवियों पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा है।

पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव

नीतिकारों ने नीति की शिक्षा देने के लिए चाणक्य नीति, पंचतंत्र, हितोपदेश आदि का आधार लिया है। लेकिन उनका अंधानुकरण नहीं किया। उन विषयों को अपने ही दृष्टिकोण से कहीं संक्षिप्त और कहीं विस्तृत किया है। यथा—

संस्कृत

'आगच्छेच्चयदा लक्ष्मी नारिकेल फलांबुवत् ।
निर्गच्छेच्च यदा लक्ष्मी गजभुक्त कपित्थवत् ।'

तेलगु

"सिरिदा बच्चिन वच्चुनु, सललितमुग नारकेल सलिलमु भंगिन्, सिरिदा बोइन बोबुनु करि ग्रिगिन वेलगपंडु करणिन् सुमती ।।"

अर्थात् नारियल फल में जिस तरह जल अपने आप ही आता है, उसी तरह भाग्य भी अपने आप ही आता है तथा जाते समय गज-कपित्थवत् अदृश्य हो जाता है। इसी तरह हम देखते हैं कि इस युग के कवियों का प्रभाव परवर्ती कवियों पर भी पड़ा है।

अस्तु, तेलुगु के पुराण युगीन नीतिकाव्य का विशेष महत्त्व है। प्रबंधों तथा पुराणों में प्रतिपादित नीति तत्त्वों के प्रतिपादन के साथ शुद्ध नीति काव्यों का प्रणयन हुआ है। परवर्ती काव्यों पर उनका अक्षुण्ण प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगत होता है।

प्रबंध युग

अध्ययन की सरलता के लिए पुनः इस युग की कविता को सात भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. वीरकाव्य परंपरा में नीति।
२. संतकाव्य परंपरा में नीति।
३. रामकाव्य परंपरा में नीति।
४. प्रेमकाव्य परंपरा में नीति।
५. नीतिकाव्य परंपरा में नीति।
६. कृष्णकाव्य परंपरा में नीति।
७. अनुवाद काव्य धारा में नीति।

वीरकाव्य परंपरा में नीति

इस परंपरा में कवि सार्वभौम श्रीनाथ के पलनाटि वीरचरित्र, विक्रमार्क चरित्र, भोजराज कथा, पलनाटि वीर गीत, हरिश्चन्द्रोपाख्यान आदि के नीति अंश आते हैं। ये कवि राजाश्रित थे। यद्यपि आश्रयदाताओं के पराक्रम, विजय, विवाह, आखेट, दान-पुण्यादि के द्वारा उनकी कीर्ति अमर बनाने के लिए काव्यों का निर्माण किया था, नीति के उपदेश देने के लिए नहीं, तथापि नीति के अंश यत्र-तत्र अल्प मात्रा में उपलब्ध होते ही हैं। इनमें वर्णित

नीतिरोहिक है। युद्धक्षेत्र से विमुख की दुर्गति, पुरुष का जन्म वीरगति पाने को हुआ है। स्वामी धर्मार्थ प्राणार्पण, पराधीन यशस्वी नहीं होता, स्वाधीनता की प्रशस्तता आदि नवीन विषयों का प्रतिपादन हुआ है। वीरकाव्यों में बहुत से प्राचीन विषय उपेक्षित कर दिए गये हैं।

संतकाव्य में नीति

इस परंपरा में पोतुलूरि वीरब्रह्मम्, संत वेमना आदि आते हैं। ये संत निराकार के उपासक थे। अवतारवाद, मूर्तिपूजा, जातिपाँति, ऊँचनीच के भेद भाव को नहीं मानते थे। ईश्वर, विश्वास, सत्यप्रियता, क्षमा, दया, परोपकार आदि में श्रद्धा रखते थे। पर जीवहिंसा, तीर्थाटन, व्रत, उपवास आदि बाह्याडंबरों का खंडन करते थे। ये धर्म-भेद, संप्रदायवाद, वर्ण, जाति, अस्पृश्यता आदि को घृणा की दृष्टि से देखते थे। यद्यपि ये लोग विशेष रूप से शिक्षित नहीं थे, तथापि बहुश्रुत एवं सदाचार से संपन्न थे। सरल जीवन के पक्षपाती थे। चित्त-शुद्धि और निर्मल चरित्र पर बल देते थे। काव्य का मुख्य उद्देश्य सामाजिक दोषों को दूर करना और लोगों को चेतावनी देकर सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता रहा है। इस कारण इनके काव्य में अनेक समाजोपयोगी तथा व्यवहारोपयोगी नीति की बातें मिलती हैं। ये पहले संत थे। इस कारण इन्होंने अधिक बल आत्मिक, सामाजिक तथा साधारण नीति पर दिया है, पारिवारिक तथा आर्थिक नीति पर कम।

नवीन विषय

यद्यपि संत काव्य का चरम लक्ष्य शिव प्राप्ति है, तथापि उसमें नीति विषयक अनेक बातों की चर्चा की गई है। शिवनाम रसास्वादन ही सर्वोत्तम है, गार्हस्थ्य नहीं, बंधुबांधवों का मोह त्याज्य है, गुरु की भगवान् से अधिक महत्ता, नारी नरक की जड़, अस्पृश्यता का खंडन, निराडंबर जीवन की प्रशस्तता आदि उत्तम बातें प्रतिपादित हैं। तत्कालीन परिस्थितियों ने नवीन विषयों की ओर ध्यान देने के लिए प्रेरित किया है।

उपेक्षित विषय

इनके काव्य में अनेक प्राचीन विषय उपेक्षित कर दिए हैं—क्षुधा, वाग्मि प्रशंसा, विद्या का महत्त्व, व्यवहार ज्ञान के बिना पंडित भी मूर्ख, सुकवि-कुकवि, मान शौर्य की महत्ता, अपरिचित को आश्रय देने का अनौचित्य आदि। इन सब की उपेक्षा का एक ही कारण है कि इनके दृष्टिकोण में रोहिकता की कमी है। इन लोगों को लौकिक जीवन को संपन्न बनाने की चिंता न थी।

पूर्ववर्ती प्रभाव

यद्यपि संत कवि विशेष विद्वान् न थे, तथापि उस समय के बड़े-बड़े महात्माओं तथा विद्वानों के सत्संग से लाभ उठाते थे। संस्कृत के नीति ग्रंथों के शतशः श्लोकों की छाया इनके काव्यों में देखने में आती है। साथ ही तेलुगु के पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव भी दिखाई देता है।

संतकाव्य की देन

यद्यपि संतकवियों में रोहिक दृष्टि की कमी थी, और लौकिक दृष्टिकोण का अभाव था, तथापि नीतिकाव्य की दृष्टि से उसका अपना एक महत्त्व है। वह मनुष्य को अरिषड्वर्ग से दूर रहने तथा संयमी, शांत, संतुष्ट, निर्मोह एवं विनम्र बनकर रहने की उत्तम प्रेरणा प्राप्त कर लेते हैं। जन्मजात श्रेष्ठता की अपेक्षा गुणों की श्रेष्ठता को, मानव उदार एवं विशाल दृष्टिकोण को अपनाता है और 'वसुधैव कुटुंबकम्' का संदेश देता है। इस प्रकार वेतना आदि के पद्यों से जहाँ पाखंड-विनाश निर्मल चरित्र का प्रचार और मानवीय प्रेम का विस्तार हुआ है, वहाँ निवृत्ति-परायण लोगों को उच्च जीवन प्राप्त करने की पुनीत प्रेरणा भी मिली है।

रामकाव्य परंपरा में नीति

इस परंपरा में गोपीनाथ वेंकट कवि रचित गोपीनाथ रामायण, मोयला कृत मोयल, रामायण, अय्यलराजु रामभद्र कवि का रामाभ्युदय, कंकंटि पापराजु का उत्तर-रामायण आदि प्रसिद्ध हैं। गोपीनाथ रामायण वाल्मीकि रामायण का अनुवाद है। मूल कृति में जो नीतितत्त्व प्रतिपादित है, वही इसमें भी दीखता है। मोयल रामायण में नीतितत्त्व की अपेक्षा काव्यतत्त्व अधिक है। कंकंटि पापराजु के उत्तर-रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के शैशव, यौवन, प्रौढ़त्व की सभी अवस्थाओं में जो विभिन्न कर्त्तव्यों का प्रतिपादन हुआ है, उनके द्वारा सुंदर शिक्षा दी गई है। पुत्र का पिता के प्रति कर्त्तव्य, भाई का भाई के प्रति कर्त्तव्य, पत्नी का पति के प्रति कर्त्तव्य, गुरु का शिष्य के प्रति कर्त्तव्य, शिष्य का गुरु के प्रति कर्त्तव्य, राजा का सेवक के प्रति कर्त्तव्य, सेवक का राजा के प्रति कर्त्तव्य आदि अनेक कर्त्तव्यों का अत्यंत सुंदर ढंग से प्रतिपादन किया गया है।

इन पर पूर्ववर्ती रामकाव्यों का प्रभाव लक्षित होता है। रामकाव्यों में धर्म-शास्त्र, नीतिशास्त्र तथा जीवन शास्त्र के अनुकूल अनेक नीति-विषयों का समावेश हुआ है। नवीन विषयों का बहुत कम समावेश हो पाया है।

प्रेमकाव्य परंपरा में नीति

तेलुगु में मनुचरित्र, राजशेखर चरित्र, प्रभावती प्रद्युम्न, कलापूर्णोदय, चंद्रमती परिणय; रसिकजन मनोभिरामम् और चंद्ररेखा विलासम् आदि प्रेम-काव्य परंपरा में आते हैं।

मनुचरित्र के नायक प्रवर सदाचार सम्पन्न क्षत्रिय ब्रह्मनिष्ठ, तपस्वी एवं एक पत्नी-व्रती के रूप में चित्रित है। नायिका वरुधिनी पतिव्रता है, परपुरुष की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखती, जिसे वरण किया उसे अपना सर्वस्व मानकर, उनके साथ जीवन यापन कर जीवन को सफल बनाना चाहती है। यही उनकी नीति और धर्म है।

राजशेखर चरित्र में राजशेखर और कांतिमती का परिणय, प्रभावती प्रद्युम्न में प्रद्युम्न और प्रभावती का विवाह, कलापूर्णोदय में कलापूर्ण और मधुरलालसा की शादी, चंद्र-

लेखा विलास में चंद्रलेखा एवं नीलाद्रिराजु का विवाह वर्णित है। 'चंद्रलेखा विलास' काव्य-कर्ता ने चंद्ररेखा विलासमु नामक काव्य भी लिखा है, जिसमें नीलाद्रिराजु की निंदा जी खोलकर की गई है। इस प्रकार आश्रयदाता की निंदा करते हुए लिखे गए काव्यों में यह काव्य सर्व-प्रथम है। इसी में कवि की निंदा अथवा स्तुति भी है।

मनुचरित्र के अतिरिक्त सभी प्रेमकाव्य कल्पित काव्य हैं। इनमें संयोग श्रृंगार का विशद वर्णन हुआ है। नीति का अंश नगण्य है। यत्र-तत्र संस्कृत नीति श्लोकों की छाया अवश्य दीखती है।

नीतिकथात्मक काव्य परंपरा

इस परंपरा में कूचिराजु ररिन्न का सकल-नीति-कथा-विधान, सिंगन का सकल नीति सम्मतम्, अनंतामात्य का भोजराजीयम्, दुग्गन का नासिकेतोपाख्यान आदि ग्रंथ आते हैं।

भोजराजीयम् में गो-व्याघ्र संवाद में सत्य-वचन की महिमा वर्णित है। मदनरेखा कथा में पातिव्रत्य का प्रभाव प्रदर्शित है। पावकलोमुनि कथा तो नीतियों की निधि ही है। अन्नदाता विप्र की कथा में अतिथि सेवा का फल बताया गया है। मदनरेखा कथा में नीति का प्रबोध इस प्रकार किया है।—"असत्य भाषण न करें, जीव हिंसा न करें, शान्ति के साथ रहें, अहंकार रहित होकर रहें, दयालु एवं जितेन्द्रिय होकर रहें।" ररिना के सकल नीति कथा-विधान में अनेक कथाओं का चयन मिलता है, जिससे नीति की शिक्षा मिलती है। नासिकेतोपाख्यान में अनेक उपाख्यानों के द्वारा नीति व उपदेश की प्रेरणा दी गई है। 'सकल-नीति-सम्मतम्' में अनेक नीति ग्रंथों का संग्रह मिलता है।

इन सभी कवियों ने अपने ग्रंथों में पौराणिक तथा उपदेशात्मक शैली का प्रयोग किया है। मानव पात्रों के चित्रण के साथ पशु-पक्षियों के हाव-भाव तथा स्वभाव का वर्णन बहुत ही उत्तम ढंग से किया गया है। लोक को शिक्षा देना कवियों का लक्ष्य प्रतीत होता है। लोक में प्रचलित कथाओं के माध्यम से सरस शैली में सुंदर शिक्षा दी गई है। इनमें यत्र-तत्र पूर्ववर्ती तेलुगु के महाभारत, भागवत, कलापूर्णोदय, मनुचरित्र आदि महाकाव्यों से भावानुकरण मिलता है।

कृष्णकाव्य परंपरा में नीति

इस परंपरा में महाकवि पोतना प्रणीत 'भागवत', तिम्मना कृत 'पारिजातापहरणम्', 'सत्यभामासांत्वनम्' तथा मुद्दुपलनि का 'राधिका सांत्वनम्' बहुत प्रसिद्ध हैं। भागवत में कई उपाख्यानों को पोतना ने शिक्षात्मक एवं नीतिप्रद रूप में प्रस्तुत किया है। महाभारत में भी कृष्ण से संबंधित प्रसंग कई एक आते हैं, जब वे दूत कार्य करने जाते हैं, उन अवसरों पर श्रीकृष्ण के मुख से लोक व्यवहारोपयोगी बहुत-सी बातों की चर्चा कराई गई है।

पारिजातापहरणम्, राधिका सांत्वनम् आदि काव्य काल्पनिक हैं। श्रृंगार रसपूर्ण हैं। इस कारण इनमें नीति का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार तेलुगु के कृष्ण-काव्यों में महा-भारत तथा भागवत ग्रंथों में अवश्य नीति तत्त्व उपलब्ध होता है।

काव्यानुवाद परंपरा में नीति

तेलुगु साहित्य में भर्तृहरि के शतक-त्रय का सफल काव्यानुवाद कई कवियों ने किया है। उनमें सबसे प्रसिद्ध रानुगु लक्ष्मण कवि हैं। इनकी कीर्ति का केतु 'सुभाषित त्रिशति' है: इसमें नीति, शृंगार एवं वैराग्य शतकों का प्रौढ़ काव्यानुवाद है। हर एक शतक दशक पद्धति में विभाजित हैं। मूर्ख पद्धति, विद्वत्पद्धति, सज्जन पद्धति आदि के रूप में विभाजित कर दिया गया है।

यह अनुवाद होते हुए भी मौलिक-सा लगता है। भाव-सौष्ठव तथा वस्तु प्रतिपादन बहुत ही मंजुल है। न तो शैली में कठिनता है और न दीर्घ समासयुक्त है। इसकी रचना द्राक्षपाक की तरह सरस तथा मनोज्ञ है।

'सुभाषित त्रिशति' का आंध्रानुवाद करनेवाले अन्य कवियों में रालकूचि बालसरस्वती तथा पुष्पगिरि तिम्मना हैं। तिम्मना का केवल 'नीति शतक' उपलब्ध है। सभी श्लोकों को चंपकोत्पल छन्दों में अनुवाद किया है। अतः छोटे श्लोकों का अनुवाद करते समय भाव को बढ़ाना भी पड़ा है। फिर भी यह शतक सुंदर है।

बालसरस्वती ने अपने अनुवाद में 'सुरभि मयला नीति वाचस्पति' मकुट का प्रयोग किया है। इनकी कविता कहीं-कहीं प्रौढ़ है, अर्थ में दुरूहता है।

तेलुगु में संस्कृत के बहुत से व्याख्यानुवाद उपलब्ध होते हैं। काकतीय युग में पंचतंत्र का उल्लेख मिलता है। संपूर्ण ग्रंथ तो नहीं मिला, पर कुछ पद्य अवश्य मिले हैं। उसके पश्चात् दूबगंटि नारायण कवि ने सफल काव्यानुवाद किया है, जो बहुत ही सुंदर तथा लोक-प्रिय बन पड़े हैं। आंध्र प्रदेश में इसका बहुत ही प्रचार है। वैचराजु वेंकट कवि ने भी सरस काव्यानुवाद प्रस्तुत किया है।

ह्रास युग

तेलुगु वाङ्मय के ह्रास युग में शतकों की रचना अधिक हुई है। हिमालय के उत्तुंग शिखर से उत्पन्न गंगा नदी विशाल समतल भूमि पर बहकर जिस प्रकार अपने दोनों किनारों के विशाल भू-भाग को उर्वर, हरा-भरा करके आगे बढ़ती है, उसी प्रकार शतक-काव्य की धारा चित्त की ऊँची चोटी पर से निःसृत होकर साधारण जन-मन को सींचती हुई लोक-संस्कृति के विकास में सहायक सिद्ध हुई है। शतककारों ने वेद, उपनिषद्, पुराण, महाकाव्य आदि प्राचीन ग्रंथों में प्रतिपादित चिरंतन तत्त्वों का सार सरल तथा सरस शैली में प्रस्तुत किया है। उन्होंने शतकों के द्वारा जनता के समक्ष नीति के सभी तत्त्वों को रखकर ईश्वर में आस्था उत्पन्न की और सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन स्तर को ऊँचा उठाया। उन्होंने यह बताया कि रूप, रंग, विद्या, अधिकार संपत्ति के कारण कोई व्यक्ति बड़ा या छोटा नहीं होता। व्यक्ति की परख उसके गुण, चरित्र और कार्य से होती है, न कि बाहरी दिखावट से। यद्यपि शतक-कारों ने विरक्ति पर जोर दिया है, तो भी यह नहीं समझना चाहिए कि उन्होंने किसी से जंगल में जाकर रहने के लिए कहा है। उनके विरक्ति शब्द का अर्थ यह है कि हमें भौतिक वस्तुओं के सुख-भोग में पड़कर जीवन के मुख्य उद्देश्यों को भुला नहीं देना चाहिए।

शतककारों ने जो कुछ उपदेश दिया था उसे अपने जीवन में आचरण करके दिखाया था। शतककार उच्चकोटि के संत थे, भक्त थे, साधक थे और ये सच्चे अर्थ में स्थितप्रज्ञ। इनका जीवन से अधिक निकट का संपर्क था। यही नहीं—ये मानव की चिरंतन अनुभूतियों के क्रमिक विकास के परिचायक भी थे।

नीतिपरक शतक परंपरा

इस परंपरा के शतकों में राजनीति, गृहनीति, लोकनीति, प्रवृत्ति नीति से संबंधित अनेक विषयों की चर्चा मिलती है। तेलुगु में उपलब्ध नीति शतकों में 'सुमति शतक' पहला है। इसके कवि बद्देना हैं। इसमें सरस शैली में राजा के कर्त्तव्य, सामान्य मानव के आचरण की बातें, गृहनीति से संबंधित कई बातों का प्रतिपादन हुआ है।

वेंकटेश्वर शतक

इस शतक के कवि तायलपाक अन्नमाचार्य के पुत्र तिरुकलाचार्य हैं। इसका रचना-काल सोलहवीं सदी है। इसमें सभी 'सीस पद्य' हैं। यद्यपि यह भक्ति प्रधान शतक है, फिर भी इसमें प्रसंगवश लोक नीति एवं राजनीति की बातें वर्णित हैं। इसकी नीति-प्रतिपादन शैली आगे के शतककारों के लिए मार्गदर्शक बन गई है।

शरभांक लिंग शतक

इसके कवि का नाम व समय अज्ञात है। शिव-भक्तों की प्रशंसा के साथ-साथ लोकोपयोगी एवं जनहितकारिणी बहुत-सी नीतियाँ इसमें प्रतिपादित हैं। इसमें तत्कालीन अंधविश्वासों की कटु आलोचना की गई है।

भास्कर शतक

कहा जाता है कि मारद वेंकय्या नामक कवि ने इसकी रचना की। इसके प्रत्येक पद्य में एक सामान्य नीति का विशेष लोक-दृष्टांत के द्वारा प्रतिपादन हुआ है। इसके सभी दृष्टांत अत्यन्त सरल एवं लोकानुभव को स्पष्ट करते हैं। इसकी शैली सरल होते हुए भी गंभीर है।

चन्द्रशेखर शतक

इसका कवि अज्ञात है। इसमें प्रत्येक सूक्ति हास्यरसपूर्ण है। लोभियों तथा स्वार्थियों की कटु निंदा इसमें की गई है।

जगन्नाथ शतक

वराहगिरि कोंड राजामात्य ने इसकी रचना की है। यह सुन्दर नीतियों एवं दृष्टांतों से परिपूर्ण है। इसकी शैली सरल है।

कुक्कुटेश्वर शतक

कूचिमंचि तिम्मकवि ने इसकी रचना की है। इसमें भौतिक जीवन को तुच्छ बताया गया है। इसमें भोग-विलास-परायण-धनियों तथा राजाओं की बुरी तरह से निंदा की गई है।

रामलिंगेश्वर शतक

कवि अडिदम् सूरकवि हैं। विजयनगर के नरेश द्वितीय विजयरामराज छोटे थे। उसके विरुद्ध उसी वंश के दूसरे सीतारामराजू देव, ब्राह्मण, एवं कवियों के विरुद्ध प्रचार करते थे। उनको उपदेश देने के निमित्त इस शतक की रचना की गई है।

भक्तिपरक शतक परंपरा

इस परंपरा में वृषपाथिप शतक सबसे प्रथम है। सोमनाथ ने इसकी रचना की है। तिक्कना का कृष्ण शतक, पोतना का नारायण शतक, अन्नमय्या का सर्वेश्वर शतक, देवकी नंदन शतक, रघुवीर शतक, कालहस्तीश्वर शतक, दाशरथी शतक, नरसिंह शतक आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें भक्ति के साथ नीति एवं धर्म की आस्था का प्रतिपादन हुआ है।

व्याजस्तुति शतक परंपरा

'व्याजस्तुतिर्मुखे निंदास्तुतिर्वारुढिरन्यथा' कहकर व्याजस्तुति अलंकार की व्याख्या काव्य-प्रकाश में की गई। इस स्तुति में निंदा या निंदा में स्तुति रहती है। जब देश संकट में रहता है तो कवि का कर्त्तव्य मौन रहना नहीं है। कवि भगवान की शरण में जाकर देश की और धर्म की रक्षा करने की प्रार्थना करता है।

भद्रादि राम शतक

इसके कवि नरसिंह हैं। यह शतक उस समय लिखा गया था जब मुसलमानों ने देश को लूटा, और भद्राचल के हिन्दू मंदिर को नष्ट करके उसकी मूर्तियों को अपवित्र करने का प्रयत्न किया था।

आंध्रनायक शतक

इसके कवि कासुल पुरुषोत्तम कवि हैं। जब मुसलमानों ने विजयनगर के पास के श्रीकाकुल के आंध्र-विष्णु मंदिर को नष्ट किया, उस समय कवि भगवान से कहता है—"हे भगवान्! सुनते और कहते हैं कि पहले आपने अनेक महाकार्य किये थे। लेकिन अब वे सब अतिशयोक्तिपूर्ण ही लगते हैं। हम कैसे विश्वास कर सकते हैं कि अपने मंदिर की रक्षा न कर सकने वालों ने ऐसे महान् कार्य किये" इस प्रकार उपालंभ देते हुए आंध्र-नायक-शतक का प्रणयन हुआ है।

सिंहाद्रि नृसिंह शतक

इसके कवि गोगुलपाटि कूर्मनाथ थे। यह शतक सिंहाचल पर मुसलमानों के अत्याचारों के समय लिखा गया था। इस प्रकार तीनों स्थानों में इन शतकों की रचना के बाद विपत्ति टल गई और आज तक विश्वासी लोग यही समझते हैं कि भगवान ने भक्तों की प्रार्थना सुनी थी।

तत्त्व शतक परंपरा

उपनिषद्, शास्त्र आदि उत्तम ग्रंथों में प्रतिपाद्य-विषय पंडितों तक ही सीमित है। वे गूढ़ विषय साधारण जनता के लिए दुरूह हैं। उन विषयों को, सर्वजन सुलभ, सरल भाषा में कुछ कवियों ने शतकों की रचना की थी। इन शतकों में जगत् को मिथ्या और आत्मा को नित्य बताया गया है। इनमें नारायण-शतक, रामराम शतक, शिवमुकुंद शतक, दत्तात्रेय, सदानंद योगी शतक, मानसबोध शतक, तथा चित्तबोध शतक प्रमुख हैं।

वेमना योगी के पद्यों में बहुत से पद्य नीति तत्त्व एवं प्रबोधपूर्ण हैं। शतक के रूप में सौ पद्यों का संकलन कर प्रकाशित किया जाता है। आंध्र में इसका विशेष प्रचलन है।

तेलुगु शतकों की देन

१. शतककारों के पहले तेलुगु-साहित्य में संस्कृत की काव्य शैली का अनुकरण किया जाता था और बोलचाल की भाषा साहित्य में प्रयुक्त नहीं की जाती थी। शतककारों ने सबसे पहले बोलचाल की भाषा को अपने विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया।

२. शतककारों ने आत्मशुद्धि पर जोर देकर, वेशभूषा, वाह्याडंबर, जाति-पाँति, ऊँच-नीच का भेदभाव आदि का खंडन किया था। शतककारों ने इन्हीं बातों का प्रचार किया।

३. शतककारों ने ज्ञान, भक्ति, कर्म और नैतिक आचरण को शान्तिमय जीवन के लिए सहायक माना था।

४. यद्यपि सभी शतककारों ने वेद, उपनिषद्, पुराण, अवतारवाद का समर्थन किया था, तथापि वेमना, कवि चौडप्पा आदि ने वेद, पुराण, अवतारवाद, मूर्तिपूजा आदि का खंडन भी किया था, लेकिन उन्होंने किसी-न-किसी रूप में उनके प्रमुख तत्त्वों का अपने मत में समावेश कर दिया था।

५. साहित्य की दृष्टि से भी शतक साहित्य का विशेष महत्त्व है। जटिल से जटिल विषय सरल शैली में कहे गये हैं। कुछ शतकों में सुंदर भावोत्कर्ष है, अर्थ-गांभीर्य है, मधुर-पदयोजना है, आलंकारिक भाषा है। एक शब्द में कहना है तो, कह सकते हैं कि उत्तम कवि जीवन का सारा संस्कार, हृदय पर चढ़कर शतक काव्यरूपी मुक्तकों का गान कराया है।

वास्तव में शतक ज्ञान की निधि हैं, विरक्ति नीति और प्रेम-भक्ति के पारावार हैं, तथा साहित्य-सौंदर्य के आगार हैं। तेलुगु में शतकों की संख्या छः सौ तक है। शतककारों ने अपने शतकों में गागर में सागर भरने का प्रयत्न किया है।

आधुनिक युग के नीति तत्व के प्रतिपादन के दृष्टिकोण में ही अंतर आ गया है। उसके अर्थ एवं स्वरूप में परिवर्तन हो गया है। यद्यपि आधुनिक काल में भी अनेक नीति-काव्यों का प्रणयन हुआ है, पर उनके दृष्टिकोण में व्यापकता एवं विविधता है। इस कारण विस्तार के भय से उसे नहीं लिया है। उस पर अलग से लेख लिखना उत्तम है।

इस प्रकार तेलुगु-साहित्य में नीति काव्य का विकास आदि से अंत तक होता रहा है। सभी काव्यधाराओं में नीतितत्त्व उपलब्ध है। इतना अवश्य है कि किसी काव्यधारा में वह विस्तार से प्रतिपादित है तो किसी में अल्पमात्रा में। नीति-काव्य के अतुलनीय भंडार से तेलुगु-साहित्य सचमुच संपन्न है।

हिन्दी प्रवक्ता
श्री वें० एन० फनाहाला
नर्सपुर, पश्चिमी गोदावरी,
आंध्र-प्रदेश

विशिष्टाद्वैत दर्शन और तुलसी की भक्ति-भावना

श्रीमती रमा सूद

भक्त-प्रवर महाकवि गोस्वामी तुलसीदास ने भक्ति के क्षेत्र में कलानिधि चन्द्रमा के समान रामामृत की धारा को प्रवाहित किया जिसको पीकर जनता आज तक अमर है और युग-युग तक रहेगी। भक्त, कवि और सुधारक होने के साथ-साथ ज्ञाननिधि तुलसी दर्शन-शास्त्र के वेत्ता भी थे, अतः इसका भी उन्होंने अपने ग्रन्थों में सुन्दर स्फुरण किया है। तुलसी ने 'नाना पुराण निगमागम' का अध्ययन किया था, अतः उनके ग्रन्थों में दार्शनिक विचारों की श्रृंखला भी सिद्धान्त रूप से उपलब्ध होती है। समीक्षकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से उनके विचारों और दार्शनिक निरूपण को देखकर उन्हें अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, स्मार्त, वैष्णव आदि अनेक सम्प्रदायों का अनुयायी सिद्ध किया है। तुलसी ने अपने युग की अनेक प्रचलित दार्शनिक परम्पराओं को आत्मसात् किया है, इसी कारण उनके काव्य में अद्वैत का प्रभाव भी देखने को मिलता है। कुछ विद्वान् तो इसी कारण उन्हें अद्वैतवादी सिद्ध करते हैं। डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र के शब्दों में—"उन्होंने पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टिकोणों का यथा-स्थान उपयोग किया है, उनका यथार्थ दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैत है न कि विशिष्टाद्वैत।"[1] महा-महोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा ने भी तुलसी के जीव तत्त्व विवेचन पर अद्वैत की छाप अधिक बताई है।[2] इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का मत भी द्रष्टव्य है—"परमार्थ की दृष्टि से तो अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है परन्तु भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं।...वस्तुतः उन्होंने अद्वैत और विशिष्टाद्वैत दोनों के ही गुणों को लेकर उनके दोषों को अस्वीकार किया है।"[3] आचार्य शुक्ल इस प्रकार तुलसी में अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का समन्वय मानते हैं। डा० बलदेव प्रसाद मिश्र ने भी एक अन्य स्थल पर तुलसी के सम्बन्ध में समन्वय के सिद्धान्त को मानते हुये लिखा है—"गीता का अनासक्ति-योग, बौद्धों और जैनों का अहिंसावाद, वैष्णवों और शैवों का अनुराग-वैराग्य, शंकर का अद्वैत-वाद, रामानुज की भक्तिभावना, रामकृष्ण परमहंस का समन्वयवाद, आर्य समाज का आर्य

---

१. तुलसी-दर्शन, पृ० २१२।

२. रामा० सम्प्र० हि० सा० प्रभाव, पृ० ३६२।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल।

संगठन और गांधीवाद की सत्य अहिंसा मूलक आस्तिकतापूर्ण लोकसेवा आदि सभी उसमें अन्तर्हित हैं ही; साथ ही मुसलमानों का मानव बन्धुत्व और ईसाइयों का श्रद्धा और करुणापूर्ण सदाचार भी उसमें क्रीड़ा कर रहे हैं।"

हिन्दी के कुछ धुरीण विद्वानों ने तुलसी को रामोपासक मानते हुये भी रामानन्दी सम्प्रदाय की वैरागी परम्परा का अनुयायी नहीं माना है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"तुलसी रामानन्द-सम्प्रदाय की वैरागी परम्परा में नहीं जान पड़ते। . . वे रामोपासक वैष्णव अवश्य थे, पर स्मार्त-वैष्णव थे।"[1] डा० माताप्रसाद गुप्त ने उक्त कथनों से प्राप्त सूचनाओं को अनुमानाश्रित बताया है जो प्रामाणिक सामग्री के आधार पर निर्धारित नहीं है।[2]

हमारे मत में तुलसीदास रामानुजाचार्य की परम्परा में श्री रामानन्द के सिद्धान्तानुयायी थे जिसके सम्बन्ध में हम इसी लेख में आगे विस्तार से प्रकाश डालेंगे। हमारी मान्यता है कि महात्मा तुलसी ने इन्हीं रामानुज के दर्शन के प्रभाव में मानस तथा अन्य ग्रन्थों में दास्यभक्ति पर बल दिया है। डा० वागीशदत्त पाण्डेय की इस सम्बन्ध में यह मान्यता है कि "निर्विवाद रूप में तुलसी के आराध्य देव राम थे और श्रीराम की अचला-भक्ति को प्राप्त करना उनकी जीवन साधना थी। वे रामानन्द की दार्शनिक और भक्ति सम्बन्धी विचारधारा से बहुत दूर तक प्रभावित थे। अतः इसी दृष्टि से उनके काव्य में रामानन्दी प्रभाव स्पष्टतः देखने को मिलता है।'[3]

उक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि तुलसी ने ब्रह्म की व्यापकता और भक्ति के क्षेत्र में उदारता के निमित्त अद्वैतवाद को ग्रहण किया और उसको शंकर के मायावाद से समन्वित किया तथापि ब्रह्म, जीव, जगत् सम्बन्धी उनकी मान्यताओं को देखते हुए तुलसी की दार्शनिक दृष्टि विशिष्टाद्वैत दर्शन के पक्ष में है। सगुणवादी दर्शन पर प्रगाढ़ आस्था रखने के कारण तुलसी को अद्वैतवादी कहना तो नितान्त भ्रमपूर्ण है। उनके काव्य में ज्ञानवाद का उल्लेख भक्ति के साधन-पक्ष के रूप में ही हुआ है। अतः महात्मा तुलसी निःसन्देह ही विशिष्टाद्वैतवादी थे, अद्वैतवादी नहीं। तुलसी की दास्य-भक्ति इसी विशिष्टाद्वैत की ही देन है। उनकी भक्ति भावना को जानने के लिये हमें विशिष्टाद्वैत पर प्रकाश डालना समीचीन जान पड़ता है। विशिष्टाद्वैत दर्शन की साधना पद्धति और सिद्धान्त पक्ष पर प्रकाश डालने से पूर्व हम वैष्णव-भक्ति की परम्परा को भी उद्धृत करना चाहेंगे, जिससे विशिष्टाद्वैत दर्शन का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत करने में हमें सहायता मिलेगी।

भक्ति की दो मुख्य धाराओं का विकास १५वीं शताब्दी में उत्तर भारत में हुआ है। ये धारायें थीं--राम-धारा और कृष्ण-धारा। राम-धारा के प्रवर्त्तक स्वामी रामानन्द थे जिन्होंने

---

१. हि० सा० इति०, पृ० १३२।

२. डा० माताप्रसाद गुप्त—तुलसीदास।

३. डा० वागीशदत्त पाण्डेय—मध्ययुगीन हिन्दी भक्तिकाव्य के संदर्भ में वैष्णव-सम्प्रदायों का तुलनात्मक अध्ययन।

भक्ति में आराध्य के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों को ग्रहण किया। इसीलिये प्रारम्भ में उत्तर भारत में रामभक्ति की निर्गुण एवं सगुण दोनों धारायें प्रवाहित हुई हैं। उत्तर भारत में कृष्ण-भक्ति के प्रवर्तकों में निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य आदि आचार्यों का नामोल्लेख हुआ है। इनसे पूर्व रामानुज, मध्वाचार्य और विष्णुस्वामी का नाम आता है; लेकिन इनका प्रभाव दक्षिण तक ही सीमित रहा, उत्तर भारत के भक्ति आन्दोलन से इनका सीधा सम्बन्ध नहीं रहा। विष्णु-स्वामी की विलुप्त परम्परा आचार्य वल्लभ द्वारा फिर से विकसित हुई है। स्वामी रामानन्द ने उत्तर भारत में राम-भक्ति का प्रचार प्रसार करने में अपना विशेष योगदान दिया; लेकिन फिर भी रामानुज इनके उपजीव्य रहे हैं। स्वयं रामानन्द द्वारा प्रस्तुत वंशावली में रामानन्द ने रामानुज को अपना पूर्वज स्वीकार किया है।

पंद्रहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में भक्ति के प्रचार केन्द्रों में काशी और वृन्दावन का विशेष महत्त्व है। काशी में इस नवीन धार्मिक जागृति का सूत्रपात १४वीं शताब्दी के मध्य में स्वामी रामानन्द ने किया। आचार्य निम्बार्क कब ब्रजमण्डल पधारे, इसका निर्णय नहीं हो पाया है। लेकिन निम्बार्क के ब्रजागमन के साथ-साथ उत्तर भारत में कृष्ण भक्ति ने जन-आन्दोलन को प्रभावित किया, यह सर्वमान्य तथ्य है। इसके उपरान्त १५वीं ईस्वी में आचार्य वल्लभ और महाप्रभु चैतन्य द्वारा ब्रजमण्डल के तीर्थों के उद्धार के साथ इस भक्ति आन्दोलन को विशेष प्रोत्साहन दिया गया है। इस प्रकार १५वीं शताब्दी के मध्य से लेकर १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक इन वैष्णव आचार्यों के सत्प्रयास से उत्तर भारत में जो भक्ति का बीज-बपन किया गया, उसने शीघ्र अंकुरित होकर जन-मानस को अपनी ओर आकर्षित कर लिया।

वैष्णव-भक्ति के विकास में मुख्यतः चार सम्प्रदायों का प्रभाव माना गया है जिनके अपने-अपने पृथक दर्शन हैं। मध्यकालीन वैष्णव कवियों की साधना-पद्धति प्रायः इन्हीं दर्शनों का अवलम्ब लेकर आगे बढ़ी है। ये चार सम्प्रदाय हैं—श्री सम्प्रदाय, ब्रह्मसम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय, और सनक सम्प्रदाय। इनमें श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य रामानुज हैं, ब्रह्म सम्प्रदाय का सम्बन्ध आचार्य मध्व से है, रुद्र सम्प्रदाय से विष्णुस्वामी का और सनक सम्प्रदाय से निम्बार्क का सम्बन्ध माना जाता है। वैष्णव-सम्प्रदायों में इन आचार्यों का इतना अधिक महत्व है कि परवर्ती आचार्यों को वैष्णवत्व की श्रेणी में आने के लिये अपने को किसी न किसी सम्प्रदाय से जोड़ना पड़ा है। आचार्य रामानुज का दर्शन विशिष्टाद्वैत-दर्शन कहलाता है। उत्तर भारत में विकसित मर्यादावादी राम-भक्ति को इसी विशिष्टाद्वैत दर्शन ने प्रभावित किया है। इसलिये संक्षेप में, हम यहाँ इस दर्शन की प्रमुख विशेषताओं पर कुछ प्रकाश डाल रहे हैं।

विशिष्टाद्वैत दर्शन, मीमांसा दर्शन पर आधारित है। चेतन अचेतन विभाग विशिष्ट ब्रह्म के अभेद या एकत्व का निरूपण करने वाले सिद्धान्त का नाम विशिष्टाद्वैत है। इस दर्शन की व्याख्या करते हुये रामानुज ने तीन पदार्थ माने हैं—चित्, अचित् और ईश्वर। चित् है भोक्ता जीव, अचित् है माया तथा भोग्य जगत् और ईश्वर है अन्तर्यामी परमेश्वर। रामानुज ने ईश्वर को सदैव सगुण ही बताया है। रामानुज के मतानुसार निर्गुण वस्तु की कल्पना सम्भव नहीं है और चूँकि संसार के समस्त पदार्थ गुण विशिष्ट प्रतीत होते हैं, अतः ईश्वर भी सगुण ही

है। रामानुज ने निर्गुण ब्रह्म की भी कल्पना की है और उस कल्पना में इतना ही कहा है—चूंकि ब्रह्म प्रकृति और लौकिक गुणों से रहित है अतः वह निर्गुण है। रामानन्द ने ईश्वर को सजातीय-विजातीय भेदों से शून्य कहा है पर स्वगत भेद से शून्य नहीं बताया। इस स्वगत भेद के अन्तर्गत ही उन्होंने ईश्वर को आत्मरूप तथा चित्-अचित्—जीव और जगत् को उसका शरीर बताया है। रामानुज ने ईश्वर और जीव जगत् के सम्बन्ध को "अपृथक् सिद्धि" की संज्ञा दी है। इस प्रकार आत्मा और शरीर में जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध ईश्वर और चित् अचित् में होता है। ईश्वर विशेष्य है और चित् अचित् विशेषण। रामानुज विशेषणों से युक्त विशेष्य की एकता स्वीकार करते हैं। अतः अंगभूत चिदचित् की अंगीभूत ईश्वर से पृथक् सत्ता न होने के कारण ये ब्रह्म को अद्वैत रूप बताते हैं। विशेषणों पर विशेष्य का प्रभाव रहता है और पूर्णरूप से विशेषण विशेष्य पर आधारित है। अतः विशेषण अर्थात् चित्-अचित् की अपेक्षा विशेष्य का महत्व अधिक है। इसीलिए विशेष्य चित् अचित् की अपेक्षा ईश्वर विशिष्ट है। यही, विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त है।

रामानुज के मत में ईश्वर समस्त सृष्टि का निमित्त कारण होते हुए भी उपादान कारण है। ब्रह्म की दो अवस्थायें हैं—कारणावस्था और कार्यावस्था प्रलय में समस्त चेतन और अचेतन ब्रह्म में लीन रहते हैं। यही ब्रह्म की कारण अवस्था है। सृष्टि-काल में जीव और जगत् प्रतीयमान रहते है, यही कार्यावस्था है। वेदान्तियों ने जगत् को निषेधात्मक असत्य बताया है लेकिन रामानुज ने इसे स्वीकारात्मक सत्य कहा है। सृष्टि को स्वीकारात्मक सत्य मानने में रामानुज की धारणा इस कारण बनी; क्योंकि इस सृष्टि को वे ईश्वर का अंश रूप बताते हैं। रामानुज ने चित् और अचित् को ईश्वर पर आश्रित बताया है। जिस प्रकार देह और देही का सम्बन्ध है, चिनगारी अग्नि का अंश है उसी प्रकार चित्, अचित् ब्रह्म से जुड़ा हुआ है।

इस प्रकार अपनी लयावस्था में रामानुज ब्रह्म को एक तथा अद्वितीय मानते हुए भी कार्य रूप में उसे षड्गुण सम्पन्न बता कर चित्-अचित् रूप को उसका अंश बताते हैं। यह चित् अचित् उसके स्वगत भेद हैं। जीव अपने समस्त कार्यों के लिए ब्रह्म पर आधारित है, ब्रह्म स्वतंत्र है एवं ज्ञान, आनन्द, दया आदि सद्गुणों से सम्पन्न सगुण कहलाता है। ब्रह्म का अंश होते हुए भी जीव अनुरूप है, अल्पज्ञ है। इस अनुरूप एवं अल्पज्ञता के कारण ब्रह्म के साथ उसका एकीकरण सम्भव नहीं है। इस तरह संसारी दशा में ब्रह्म जीव से पृथक् है। माया, अविद्या और अज्ञान तीनों अलग-अलग है। अज्ञान जीव से सम्बन्धित है जो अल्पज्ञ जीव को ही मोहित कर सकता है। सर्वज्ञ ब्रह्म का वह स्पर्श भी नहीं कर सकता। जीव को संसार के बंधन में बाँधने वाला यह अज्ञान ही है जो भगवद्भक्ति से तिरोहित हो जाता है और जीव पुनः अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। रामानुज-सिद्धान्त के अनुसार जीव जब तक देह धारण करता है तब तक उसे मुक्ति पाना सम्भव नहीं। देह रहते ही वह नाना क्लेशों को सहता है लेकिन जिस समय देहपात होता है और संसारी भाव या अज्ञान तिरोहित होता है उस समय वह ब्रह्मानन्द का भोग करता हुआ भय तथा क्लेश से मुक्त हो जाता है। देहपात होने पर भी जीव जीव ही रहता है वह ब्रह्म कभी नहीं हो सकता। 'तत्वमसि' की व्याख्या रामानुज अपने सिद्धान्तानुसार करते हैं। तस्य त्वम् असि (दासः) अर्थात् तू उसका दास है—यह व्याख्या विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के

अनुसार है; क्योंकि विशिष्टाद्वैत में अद्वैत ब्रह्म को जीव और माया की अपेक्षा विशिष्ट बताया गया है और इसी कारण रामानुज ने जीव और ब्रह्म में स्वामी और सेवक भाव माना है। जीव और ब्रह्म में इस प्रकार की परिकल्पना के कारण इस सम्प्रदाय में दास्य-भक्ति को महत्त्व दिया गया है।

रामानुज सम्प्रदाय की साधना-पद्धति जीव और ब्रह्म के परस्पर सम्बन्धों को लेकर विकसित हुई है। जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध शेष और शेषी भाव का है। जीव शेष अर्थात् दास है। ईश्वर शेषी अर्थात् स्वामी है। ईश्वर का दास होने के कारण जीव का कर्तव्य है कि आनन्द भाव से ईश्वर की सेवा करे। भगवान ही इस समस्त प्रपंच के उपादान और निमित्त कारण हैं। जीव स्वयं भगवद् अंश रूप है। इस प्रकार अपने उत्पादक स्वामी के प्रति आत्म-समर्पण करना उसका धर्म भी है। आत्म-समर्पण की इस भावना के कारण ही वैष्णवों में दास्य-भक्ति का महत्त्व देखा गया है। आत्म-निवेदन के बिना भक्ति की साधना केवल बाहरी एवं खोखली है, अतः जीव का यह कर्तव्य है कि आत्माभिमान से रहित होकर प्रभु की शरणागति प्राप्त करे। पारिभाषिक शब्दों में यह प्रपत्ति का सिद्धान्त है। यह प्रपत्ति ही भक्त के प्रति भगवद्कृपा जाग्रत करती है और ईश्वर-प्राप्ति में सहायक होती है।

श्री रामानन्दी वैष्णवों का विकास रामानुज से माना जाता है। श्री रामार्चन-पद्धति में स्वामी रामानन्द ने अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख करते हुए स्पष्ट रूप से अपना सम्बन्ध स्वामी रामानुज से जोड़ा है। इसी कारण रामानन्द पर रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। लेकिन इस प्रभाव को ग्रहण कर के भी उन्होंने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाया और अपनी दार्शनिक उद्भावनाओं को लोक सापेक्ष कर के अपने सम्प्रदाय को एक स्वतन्त्र अस्तित्व दिया। रामानन्द का सम्प्रदाय इसी कारण वैरागी सम्प्रदाय या रामावत् सम्प्रदाय के नाम से अपना पृथक् अस्तित्व बनाये हुए है।[१] रामानन्दी सम्प्रदाय में श्री वैष्णवों के द्वादशाक्षर मन्त्र के स्थान पर षडक्षर मन्त्र—"ओं राम रामाय नमः" स्वीकार किया गया है। मन्त्र ही नहीं, जप तिलक और साधना-पद्धति में भी भिन्नता के कारण रामानन्दी सम्प्रदाय श्री सम्प्रदाय से पृथक् माना गया है। रामानुज सम्प्रदाय में ब्रह्म को नारायण कहा गया है लेकिन रामानन्द ने राम को ही ब्रह्म माना है।[२] रामानन्दी सम्प्रदाय में सीता लक्ष्मण सहित राम की उपासना निहित है जबकि रामानुज सम्प्रदाय में लक्ष्मी और विष्णु की पूजा का विधान है। इस प्रकार रामानन्द ने रामानुज का अनुकरण मात्र नहीं किया। उनकी भक्ति पद्धति, पूजा, अर्चना रामानुज से भिन्न हैं।

रामानन्द ने विश्व की उत्पत्ति, रक्षा तथा लय का एकमात्र कारण ब्रह्म को बताया है। ब्रह्म नित्य है, वह ब्रह्मा आदि देवों का भी नियामक है, वेदों का उपदेष्टा और सर्वज्ञ है।[३] वह

---

१. भागवत् सम्प्रदाय—बलदेव उपाध्याय।

२. आनन्द भाष्य, पृ० ४।

३. वैष्णवमताब्ज भास्कर, पृ० २।

स्वयं बन्धन रहित संसार का पालक और मुमुक्षुओं का प्राप्य है।[1] रामानन्द ने ब्रह्म पद से श्री रामचन्द्र का ही बोध किया है। ब्रह्मा और शिवादि देवता इसी कारण श्रीराम के चरणों की वन्दना करते हैं तथा समस्त वेद उन्हीं के गुण और माहात्म्य का वर्णन करते हैं। रामार्चन पद्धति के अन्तर्गत स्वामी जी ने राम को दशरथ पुत्र तथा जानकी का स्वामी बताया है। भक्तों के भय को दूर करने के लिए ही राम ने दशरथ पुत्र होने की लीला सम्पादित की है।[2] राम अद्‌भुत् शक्ति-सम्पन्न, जगत् के स्वामी, कृपा के सिन्धु, जगन्निवास, अखिल वैभव युक्त तथा बड़े उदार हैं। राम भक्तवत्सल हैं और जीवों के परम प्राप्य हैं।[3] स्वामी जी के दार्शनिक विचार और धार्मिक मान्यताओं का विशद् वर्णन रामार्चन पद्धति और वैष्णव मताब्ज भास्कर में वर्णित है।

वैष्णव मताब्ज भास्कर में जीव के सम्बन्ध में स्वामी जी ने बहुत विस्तार से लिखा है। उन्होंने जीव को ईश्वर की अपेक्षा अज्ञ और ईश्वर पर अधीन माना है और जीव को चेतन और बद्धादि भेदों से भिन्न-भिन्न शरीरों में विभक्त बताया है। जीव स्वकर्मानुसार फल भोगने वाला है तथा अपने को कर्त्ता और भोक्ता समझने का अभिमान भी उसमें है। जीव स्वतन्त्र न होकर सदा भगवान् के आश्रित है। भगवान् ही जीवों का एकमात्र उपाय है।[4] भगवान् की अहैतुकी कृपा के बिना जीव को मोक्ष नहीं मिलता।[5] स्वामी रामानन्द ने जीव और भगवान् के बीच अनेक सम्बन्ध माने हैं जैसे पिता-पुत्र, सेवक-सेव्य, रक्षक-रक्ष्य आदि सम्बन्ध। स्वामी जी ने जीवों के दो मुख्य भेद किए हैं---बद्ध और मुक्त। कर्मों के समूह से अनेक प्रकार से बँधे हुए देहाभिमानी जीव को बद्ध जीव कहा गया है[6] तथा संसारी भाव रहित केवल श्रीराम को ही प्राप्य मानने वाले अनन्य भाव से श्रीराम में लीन जीव मुक्त-जीव हैं। स्वामी जी ने मुक्त जीवों के भी दो भेद किए हैं---नित्य और कादचित्क। निरन्तर श्रीराम का जिन्हें प्रेम प्राप्त है ऐसे हनुमदादि जीव नित्य जीव हैं तथा सत्पुरुष सिद्ध जीव कादचित्क जीव कहलाते हैं।[7] बद्ध जीव के स्वामी जी ने दो भेद किए हैं---मुमुक्षु एवं बुभुक्षु। इनमें अविद्यादि दुष्ट कर्मों की वासना से छूटने का प्रयास करने वाले जीव को मुमुक्षु और सांसारिक भोगों में लीन रहने वाले लोगों को बुभुक्षु संज्ञा दी है।[8] स्वामी रामानन्द ने इस प्रकार बड़े विस्तार से विविध रूपों में जीवों का वर्णन किया है और सिद्धान्त रूप में ईश्वर और जीव में वास्तविक भेद माना है।

---

१. वही, पृ० ३।
२. रामार्चन पद्धति, पृ० २।
३. वैष्णव मताब्ज भास्कर, पृष्ठ २३।
४. वै० म० भा० पृष्ठ ५।
५. वही, पृष्ठ १५।
६. वही, पृष्ठ १७४।
७. वही, पृष्ठ १७९।
८. वै० म० भा० पृष्ठ १७४।

इस भेद को वे श्रुति, स्मृति आदि पर आधारित बताते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' में स्वामी रामानन्द के दार्शनिक विचार और धार्मिक भावनाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। नीचे हम गोस्वामी जी की भक्ति भावना में रामानन्दी विचारधाराओं को दिखाने के निमित्त गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार और भक्ति-भावों का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं जिनमें रामानन्दी विचारधारायें स्पष्ट रूप से परिलक्षित होंगी।

सिद्धान्त रूप में, दार्शनिक दृष्टि से तुलसी विशिष्टाद्वैत दर्शन के पक्षपाती हैं लेकिन रामानन्द की भाँति भक्ति के क्षेत्र में अपनी उदारता एवं व्यापकता के कारण अपने समय की प्रचलित सभी धार्मिक भावनाओं को उन्होंने श्रद्धा की दृष्टि से देखा। इसी कारण राम के अनन्य अनुयायी होते हुए भी तुलसी ने वैष्णव, शैव, निर्गुण, सगुण आदि सभी भावनाओं का आदर किया और साम्प्रदायिक दुराग्रह की भावना का परित्याग करते हुए यह समन्वयवादी भी कहलाये। तुलसी ने राम के अर्चावतार विग्रह में ही अपनी आस्था व्यक्त की है।[१] संक्षेप में, विशिष्टाद्वैतवादी विचारधारा के अनुरूप तुलसी के राम भी सकल विकार रहित हैं। वे दिव्य गुणों से युक्त, अनन्त, सर्वात्मा, नित्य व्यापक, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्दस्वरूप एवं ऐश्वर्यादि गुणों से परिपूर्ण हैं।

महात्मा तुलसी ने श्रीराम को ब्रह्म तथा उन्हें ही जगत् का स्रष्टा, रक्षक व लयकर्ता बताया। तुलसी के शब्दों में—राम से शक्ति पाकर माया क्षण भर में समस्त भुवनों की सृष्टि कर डालती है। राम परब्रह्म ज्ञानस्वरूप तथा तपस्यादि से दुर्लभ हैं। ब्रह्म सर्वव्यापी है पर वह प्रेम से प्रकट हो जाता है और भक्तों में उत्कट प्रेम का संचार करता है। तुलसी ने राम को परमानन्दमय बतला कर उनके महाविष्णुत्व का प्रतिपादन किया है।[२] राम अनन्त गुणों के आकर एवं शरणागत रक्षक हैं।[३] राम को निर्गुण एवं सगुण से परे बता कर उन्हें परात्पर परब्रह्म माना है।[४] इस प्रकार तुलसी ने रामानन्दी विचारधाराओं को ही आत्मसात् किया है। उनकी ब्रह्म सम्बन्धी मान्यताओं में रामानन्दी प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

रामानन्दी सम्प्रदाय में 'राम लक्ष्मण और सीता'—इस त्रिमूर्ति को ही उपास्य बताया है। उसी की अभिव्यक्ति तुलसी ने भी "सीय सहित दोउ भ्रात" कह कर की है। दास्य भाव भक्ति के कारण तुलसी ने भी राम से चरण प्रीति का ही वरदान माँगा है।[५]

रामानन्दी सम्प्रदाय में सीता जी का विशिष्ट स्थान है। उन्हें देवताओं का सम्पूर्ण ऐश्वर्य तथा जगत् का आधारभूत माना गया है। वे अशरणों को शरण देने व राम को प्राप्त कराने में समर्थ हैं। रामानन्द के विचारों के अनुरूप ही तुलसीदास ने भी भोग और ऐश्वर्य के लिए

---

१. विनय पत्रिका—पद ६१-६३।

२. मानस बा० का० पृ० १३, ६२।

३. वही, पृष्ठ ३०६।

४. वही, पृ० ३२७।

५. मानस पृष्ठ १६९-३८९; विनय पत्रिका पद १०१-२४३।

देवताओं द्वारा सीता जी की स्तुति करते हुए वर्णित किया है।[१] तुलसी ने जानकी जी को आदि शक्ति का रूप बता कर जगत् की उत्पत्ति तथा लय आदि का कारण रूप माना है।[२] सम्प्रदाय की विचारधारा का अनुगमन करते हुए तुलसी ने स्वीकार किया है कि सीता जी की अपार कृपा से ही भक्त भगवान् राम को पाता है। तुलसी ने तो यहाँ तक लिख दिया कि सीता जी की कृपा कामना मनुष्य ही नहीं देवता भी करते हैं।[३] रामानन्दी सम्प्रदाय में सीता की कृपा के विना प्रपत्ति सम्भव नहीं। इसी कारण तुलसी ने भी राम कृपा ो पाने में सीता की ओर निहारा है। ऐसे ही रामानन्द ने भी वैष्णव मताव्ज भास्कर में लिखा है—"श्री सीता के द्वारा ही भक्त भगवान् राम को प्राप्त करता है। महारानी सीता जी पुरुषकार भूता हैं और वही उपाय भी हैं। सीता जी की कृपा कटाक्ष के बिना जीव को भगवान् राम की प्राप्ति नहीं हो सकती अत: रामप्रिया सीता अत्यन्त उदार हैं।"[४]

सम्प्रदाय का अनुगमन करते हुए तुलसी ने यह स्वीकार किया है कि यदि ज्ञान अज्ञान का भेद न हो तो ईश्वर और जीव में कोई भेद नहीं है। इसी अज्ञान को समाप्त करने और माया से छूटने का एकमात्र उपाय भगवद्भक्ति है। संसार के बंधनों से जीव की मुक्ति प्रपत्ति द्वारा सम्भव है, इसी से तुलसी ने अपने काव्य में प्रपत्ति के छहों अंगों—अनुकूलता का संकल्प[५], प्रतिकूलता का परित्याग,[६] रक्षण विश्वास[७], गोप्तृत्व वरण[८], आतम निक्षेप[९] और कार्पण्य[१०], पर प्रकाश डाला है। साथ ही उन्होंने यह भी माना है कि राम की शरण में जाये बिना जीव इस भवसागर से पार नहीं हो सकता। भवसागर से पार होने के लिए भगवत्कृपा अत्यन्त आवश्यक है। भगवत्कृपा के लिये व्यक्ति जप, योग, तप, दान आदि विविध क्रियायें करते हैं, लेकिन भगवत्कृपा का अधिकारी वही है जो निष्काम प्रेम करता है।[११] भगवत्कृपा प्राप्ति के साधनों में स्वामी जी ने नवधा-भक्ति का उल्लेख किया है जिसका अवलम्ब लेकर भक्त भगवान् का स्नेह भाजन बनता है। तुलसी ने भी नवधा भक्ति को साधन रूप मान कर इसको भक्त के चरित्र का उज्ज्वल रूप निर्मित करने में सहायक माना है।[१२] इस दृष्टि से भक्त

---

१. मानस, पृ० २२२।
२. वही, पृ० २२२, ७६।
३. वही, पृ० ५०१।
४. वै० म० भा०, पृ० १७।
५. मानस, पष्ठ ४०१।
६. वि० प०, पद १७४।
७. कवितावली उ० का० ७१।
८. गीतावली।
९. क० व० उत्तरकाण्ड, पृ० ९४।
१०. वि० प०, पद० ७९।
११. मानस, पृ० ४८२।
१२. वही, पृष्ठ ३४५-३४६।

में साधु संगति, कथा श्रवण, गुरु पद प्रेम, कीर्तन, मंत्र जप, दमन, शील और वैराग्य, समभाव यथा लाभ, सन्तोष और छलहीनता आदि गुणों को आवश्यक बताया है। मानस में नवधा भक्ति के अनेक उदाहरण हैं।[1] तुलसी ने सख्यभाव में अपनी आस्था प्रकट नहीं की। केवल विनय पत्रिका में विप्र, व्याध, गणिका प्रसंग में दो एक पद सख्य भाव को ध्वनित करते हैं।

न्यास पर बल देते हुए भक्तों ने मन को विषयों से निवृत कर देने की प्रार्थना भगवान् से यत्र-तत्र की है। विनयपत्रिका तथा मानस में अनेक ऐसे भाव हैं जिनमें भक्त विषयों से मन को पृथक् करना चाहता है, जैसे—

सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरि पद विमुख काहू न लह्यो, सुख सठ यह समुझि सबेरो,[2]

अथवा **कबहूं मन विश्राम न मान्यो।**[3]

जैसा हम पहले कह आये हैं विशिष्टाद्वैत दर्शन में ईश्वर और जीव में आधार-आधेय अथवा शेषी-शेष का सम्बन्ध है। अपने विशिष्ट गुणों के कारण ही ईश्वर जीव से ऊपर उठा हुआ है। यह दूरी और भेद जीव की मुक्तावस्था में भी सम्भव नहीं है। इसी कारण इस सम्प्रदाय में सेवक-सेव्य भाव पर विशेष बल दिया गया है। रामानन्दी सम्प्रदाय में विशिष्टाद्वैत दर्शन के परिप्रेक्ष्य में दास्य भक्ति का महत्त्व है और इसी कारण तुलसी काव्य में भी दास्य भक्ति मात्र की ही स्वीकृति है। अपनी समस्त रचनाओं के अन्तर्गत उन्होंने भगवत्कैंकर्य में अपनी दृढ़ आस्था व्यक्त करते हुए अपने को सर्वत्र राम का किंकर माना है।[4] उनके शब्दों में—"सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।" ये पंक्तियाँ उनकी दास्य भक्ति की द्योतक हैं। तुलसी ने राम को सर्वोपरि तथा अन्य देवताओं को स्वार्थी एवं राम का अंश मात्र मान कर उनसे केवल राम-भक्ति की याचना की है। परम शक्तिमान् दयालु सेव्य राम को पाकर तुलसी ने अपनी दीनता, विनम्रता तथा निरभिमानता प्रकट की है।[5] इस दास्य भक्ति का निरूपण दोहावली में बड़ी मार्मिक भाषा में किया गया है। दोहावली की 'चातक-बत्तीसी' भक्त की अनन्यता और निरभिमानता का उत्कृष्टतम उदाहरण है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तुलसी की भक्ति-पद्धति पर रामानन्द जी का अक्षुण्ण प्रभाव पड़ा है। वैसे तुलसी ने अपनी भक्ति पद्धति को युगानुरूप बनाने की भी चेष्टा की है। इसीलिए उनकी भक्ति पद्धति में शैव भक्ति, स्मार्त पद्धति, कृष्ण पूजा तथा ब्राह्मण महत्त्व आदि का भी निरूपण हुआ है। तुलसी जैसे उदारपंथी महात्मा के विशाल हृदय का यह व्यक्त रूप है।

श्रीमती रमा सूद
२२।४३ नई विजयनगर, आगरा-४

---

१. वही, पृ० ३७०, १३, १५, ६१, २२३, २३३; वि० प० पद ४७, १०३, २३४।
२. विनय पत्रिका, पद ८७। ३. विनय पत्रिका, पद ८८।
४. मानस, पृ० १८, १८९। ५. विनय पत्रिका १४९, मानस पृ० २६६, ३५१।

उपमात्व

डॉ० योगेन्द्र सिंह

अलंकार विषयक प्राचीनतम साक्ष्यों के आधार पर यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुका है कि उपमा सर्वाधिक प्राचीन अलंकार है—जिसका सर्वप्रथम उल्लेख मैत्र्युपनिषद् में हुआ है, साथ ही, इसकी परिभाषा यास्क मुनि के पूर्व (ई० पू० छठीं शती के पूर्व) निर्धारित हो चुकी थी। ऐतिहासिक दृष्टि से यह अलंकार जितना प्राचीन है, तात्त्विक दृष्टि से उतना ही विवादास्पद। विवाद इसलिए नहीं है कि कहीं इसके अलंकारत्व पर किसी को सन्देह है, वह इसलिए है कि इसका जीवातु अस्पष्ट है। उपमा-जीवातु अर्थात् उपमात्व अर्थात् वह बीजभूत तत्त्व जिसके कारण उपमालंकार को उपमालंकार जैसी संज्ञा एवं परिभाषा से सिद्ध होना पड़ता है, प्रस्तुत विवेचन का विषय है। कारण कि, ई० पू० सातवीं-आठवीं शती से लेकर सोलहवीं शती तक इसकी जो भी परिभाषाएँ दी गई हैं, उनमें उपमात्व निर्देश को लेकर परस्पर कहीं-न-कहीं भिन्नता अवश्य मिलती है। संक्षेप में इसका विवरण इस प्रकार है—

यास्क निरुक्ति (३:१३) में सर्वप्रथम बार अपने पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य के मतानुसार उपमा की दी गई परिभाषा का उल्लेख करते हैं—

उपमा यत् अतत् सादृश्यमिति

अर्थात् उस वस्तु के असादृश्य होते हुए भी, जहाँ सादृश्य स्वीकार किया जाता है, वहाँ उपमा होती है।

सम्प्रति प्राप्त उपमा की सर्वाधिक प्राचीन इस परिभाषा में उसके मूलहेतु, **'सादृश्य'** को स्वीकार किया गया है किन्तु परिभाषाकार यह भी स्पष्ट कर देता है कि इस सादृश्य के मूल में असादृश्य की सम्भावना वर्तमान है। यदि थोड़ा और बल देकर कहा जाए तो कहा जा सकता है, इसमें असादृश्य पहले है, और वही यथार्थ है—सादृश्य कल्पित एवं सम्भावित है। सादृश्य कल्पित एवं सम्भावित होने के कारण ही यह काव्यरचना की अभिन्नता से जुड़ा हुआ है। उपमा-निपातों की स्थिति भी सम्भावना एवं कल्पना के कारण नियोजित भिन्नता की ओर संकेत करती है—

इव—की भाँति (वस्तु नहीं, वस्तु की भाँति)
यथा—जैसे (वस्तु नहीं, वस्तु जैसे)
न, नु—समान (वस्तु नहीं, वस्तु के समान)

चित्—वाला (वस्तु नहीं, वस्तु जैसे धर्म वाला)

वा—प्रकार (वस्तु नहीं, वस्तु के ठीक प्रकार वाला)

यास्क के ये छह निपात परवर्ती आलंकारिकों द्वारा मान्य नहीं हुए, केवल इव तथा यथा को भामह स्वीकार करते हैं। पाणिनि जैसे वैयाकरण 'चित्' को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार व्यवहार के स्तर पर 'मुख-कमल' में मुख-कमल में असादृश्य होते हुए भी कमल जैसा, कमल की भाँति, कमल के समान, कमल वाला आदि के कल्पित सादृश्य में उपमा की सिद्धि कही जाती है। यद्यपि यास्क सादृश्य की इस निपात युक्त स्थिति से पृथक् भी उसकी अन्य स्थितियों को प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं—जैसे रूपोपमा या 'उपचित' का स्वयं उपमान बन जाना—या जहाँ उपमान स्वतः सिद्ध हों, इस प्रकार इसी उपमा में रूपक तथा लुप्तोपमा की स्थिति भी वर्तमान है। उपमा की प्राचीन परिभाषाओं में मीमांसासूत्र के भाष्यकार शबर स्वामी ने आचार्य उपवर्ण की उपमान परिभाषा का उल्लेख किया है—

उपमानमपि सादृश्यं असन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति

उपमान के माध्यम से किसी सादृश्ययुक्त (सदृश) असमीप अर्थ की प्रतीति होती है। कमल सदृश मुख–कमल मुख के असमीपत्व के कारण भी सामीप्य का उपमा से सम्बन्धित उसी अभिप्राय को व्यंजित करता है। इसी प्रकार काव्यालंकार से भिन्न अन्य प्रारम्भिक साक्ष्यों में उपमा से सम्बन्धित इस विशिष्टता की ओर सर्वत्र संकेत मिलता है। गौतम के न्याय सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन '**सामीप्यमानमुपमानम्**' के माध्यम से यही व्यंजित करते हैं—'असमीप और असमान' को 'समीप' और 'समान' सिद्ध करने के लिए उपमान का प्रयोग होता है। इसी आशय को महर्षि पतंजलि और भी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

मानं हि नामानिज्ञात्—ज्ञानार्थाय उपमीयतेऽनिर्ज्ञातमर्थम् ज्ञास्यामिति, तत्समीपे यन्नात्यन्ताय मिमीते तदुपमानन्, गवय इति। महाभाष्य २.१.५५।

महर्षि पाणिनि ने इस 'सादृय-असादृश्य' की इस स्थिति को तृतीया विभक्ति प्रयोग के माध्यम से व्यंजित करने की चेष्टा की है—'तुल्यार्थैं अतुलोपमाभ्याम्' मूलतः 'तुल्' तथा 'मा' दोनों धातुएँ एक ही अर्थ देती हैं—तौलना, मापना आदि। तुल्यता एवं उपमा—जैसे शब्द के मूल में असमानान्तर एवं असमान को समानान्तर एवं समान स्थिति में लाने का प्रयास इसके विशिष्ट अर्थ का द्योतक है। समानान्तर एवं समान स्थिति में असमानान्तर एवं असमान को लाने वाली उपमा क्षमता की ओर निरुक्तिकार, वार्तिककार, न्यायशास्त्रविद्, तर्ककार, वैयाकरण, भाष्यकार एवं आलंकारिक सभी एक ही प्रकार से स्वीकार करते हैं।

२. काव्यशास्त्र का विकास न्याय एवं व्याकरण के बाद हुआ है। यह सत्य है कि आचार्य पाणिनि तक प्रायोगिक स्थिति में उपमा का पूर्ण प्रवेश काव्य में हो चुका था। आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र इसका साक्ष्य है कि उपमा की विविध प्रायोगिक स्थितियाँ अपने वैशिष्ट्य के कारण वर्गीकृत की जाने लगी थीं। उनके द्वारा निर्दिष्ट इसके पाँच भेद—प्रशंसा, निन्दा,

कल्पिता, सदृशी एवं किञ्चित् सदृशी में बाद के दो न्याय तथा व्याकरण के आधार पर कल्पित हैं तथा प्रथम तीन प्रशंसा, निन्दा एवं कल्पिता काव्य की भाषालंकृति से सम्बद्ध—उपमा स्वतः, प्रतीप, उत्प्रेक्षा के अभिप्राय से युक्त हैं। आचार्य भरत उपमा को परिभाषित करने की चेष्टा करते हुए कहते हैं।

"काव्य बन्ध में जहाँ किसी वस्तु से किसी वस्तु का सादृश्य उपमित (तुलित) किया जाए, वहाँ उपमालंकार है। यह वर्ण, आकृति तथा गुण (क्रिया नहीं) के सादृश्य के आधार पर होती है।"

आचार्य भरत ने पहली बार उपमा को न्याय, तर्क तथा व्याकरण की सीमा से निकाल कर काव्य की सीमा के अन्तर्गत लाने की चेष्टा की है। 'आकृति' के साम्य के मूल में 'गवय' की व्यंजना स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है।

आचार्य भरत के पश्चात् काव्यालंकार का उत्तरोत्तर विकास दिखाई पड़ता है, साथ ही उसके विवेचन एवं विकास की दिशा भी स्पष्ट हो ही गई। परम्परा में १४ वीं शती तक इसकी विविध परिभाषाएँ मिलती हैं—जिनको इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

१. भरत—वर्ण, आकृति एवं गुण का सादृश्य

२. भामह—उपमेय-उपमान के बीच लेशमात्र भी गुणसाम्य

३. दण्डी—दो पदार्थों के बीच किसी भी प्रकार से सादृश्य उत्पन्न कराया जाना।

४. उद्भट—उपमेय तथा उपमान के बीच चित्त को हरण करने वाले साधर्म्य

५. वामन—उपमेय तथा उपमान के बीच गुणाधिक्य या गुणलेश साम्य

६. रुद्रट—दोनों के समान गुण एक होकर जहाँ सिद्धि (उत्कृष्टता) प्राप्त करते हैं—

७. अग्नि पुराणकार—जहाँ उपमेय तथा उपमान की समानता में अन्तर होते हुए भी उसमें निहित उभयनिष्ठता (सादृश्य) बताई जाए

८. कुन्तक—परिस्पन्द मनोहारित्व के लिए उत्कर्षवान साम्य

९. रुय्यक—क. उपमेय-उपमान का साधर्म्य होना

ख. उनमें भेद तथा अभेद की समानता का उत्पन्न होना

१०. विद्यानाथ—स्वतः सिद्धेन भिन्नेन संमतेन च धर्मतः।

साम्यमन्येन वर्णस्य वाच्यम् चेदेकदोपमा॥

११. भोजराज—प्रसिद्धरनुरोधेन यः परस्परमर्थयो

भूयोवयव सामान्ययोगः सेहोपमा॥

१२. विश्वनाथ—साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्ये उपमा (द्वयोः)

१३. मम्मट—साधर्म्य की संयुक्तता

१४. पण्डितराज जगन्नाथ—सुन्दर सादृश्य जो वाक्यार्थ का उपस्कारक हो

इस प्रकार सादृश्य, साम्य, गुणों की उभयनिष्ठता, उपमेय-उपमान के बीच साधर्म्य किन्तु भेदाभेदपूर्ण तुल्यता एवं केवल साधर्म्य आदि उपमात्व के हेतु के रूप में निर्दिष्ट तत्त्व हैं। यही नहीं इन विशेषणों में—

१. सादृश्य के साथ—वर्ण, आकृति, गुण किसी भी प्रकार का सादृश्य, सुन्दर है।
२. साम्य के साथ—गुणलेश, गुणाधिक्य, उत्कर्षपूर्ण है।
३. सारूप्य के साथ—'किंचित्' है।
४. सादृश्य उभयनिष्ठ है।
५. साधर्म्य के साथ—भेदाभेद तुल्यता है।

प्रस्तुत विवेचन का मूल प्रयोजन है कि सादृश्य, साम्य, सारूप्य-गुणगत उभयनिष्ठता या ऐक्य एवं साधर्म्य में से उपमा के लिए उपयुक्त एवं संगत आधार क्या है, स्पष्ट करना।

यहाँ पहला प्रश्न यही उठता है कि सादृश्य, सारूप्य, गुणगत उभयनिष्ठता या साधर्म्य परस्पर पर्यायवाची तो नहीं हैं। एकाध स्थल पर 'तुल्य' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। आचार्य भामह के काव्यालंकार में इस सन्दर्भ में कहीं-कहीं 'सदृश' शब्द का भी प्रयोग हुआ है किन्तु वे 'सदृश' को 'सम' के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। तुल्यता शब्द का प्रयोग 'सदृश' के अर्थ में राजानक रुय्यक द्वारा किया गया है किन्तु वह साधारण धर्म के बोधक के रूप में है। वस्तुतः कहीं भी इस प्रकार का संकेत नहीं मिलता कि ये शब्द पर्यायवाची हैं। आचार्य अप्पय दीक्षित कृत चित्रमीमांसा के उपमा-प्रसंग को देखते हुए इन शब्दों के परस्पर पर्यायवाची होने की सम्भावना और भी समाप्त हो जाती है। वे विद्यानाथ द्वारा प्रयुक्त साम्य शब्द का खण्डन करके 'सादृश्य' की स्थापना करते हैं। अप्पय दीक्षित की इस व्याख्या का खण्डन करते हुए आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ 'सुन्दर साम्य' को उपमा का आधार बताते हैं। काव्य प्रकाश की प्रसिद्ध-टीका 'काव्य-प्रदीप' के अन्तर्गत भी इसी प्रकार की चर्चा है जिससे यह मानना सम्भव नहीं है, कि उपमा-हेतु के सन्दर्भ में कवित उक्त शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं।

सादृश्य—आचार्य भरत जब 'सादृश्य' शब्द का प्रयोग उपमा के सन्दर्भ में करते हैं, तो उसका क्या अर्थ समझा जा सकता है, क्योंकि रूपक के सन्दर्भ में भी उन्होंने सादृश्य शब्द का प्रयोग किया है। रूपक के सन्दर्भ में 'किंचित् सादृश्य' और 'अवयव तुल्यता' शब्द प्रयुक्त हैं, और उपमा के लिए वर्ण, आकृति एवं गुण का सादृश्य। आचार्य भामह के काव्यालंकार से भी प्रतीत होता है कि 'साम्य' शब्द का अर्थ 'सादृश्य' ही है। आचार्य भरत के वाक्य का अर्थ स्पष्ट किया जाए तो वह यही होगा कि—किसी वस्तु के बीच सादृश्य हो किन्तु उसका आकार वर्ण, आकृति एवं गुण हो, दूसरी ओर किंचित् सादृश्य उत्पन्न किया जाए किन्तु उसका आधार अवयव की तुल्यता ही-भरत द्वारा कथित ये दोनों वाक्य (उपमा एवं रूपक से सम्बद्ध) बहुत स्पष्ट नहीं हैं। किंचित् सादृश्य वर्ण आकृति एवं गुण से भी सम्बद्ध है और अवयवतुल्यता देशविवर्ती एवं एकदेशविवर्ती होने के बाद भी उपमा की सम्पूर्णता का सूचक हो सकती है। यास्क-निर्दिष्ट उपमा भेद अर्थोपमा (व्याघ्र पुरुषः) रूपक का ही उदाहरण है। पाणिनि भी अष्टाध्यायी में व्याघ्र पुरुष की ओर 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्य प्रयोगे' के द्वारा उपमा के सन्दर्भ में ही संकेत करते हैं। उनकी आर्थी उपमा का आधार ही है—जहाँ अर्थबोध के लिए सादृश्य कल्पित कर लिया जाता है। निश्चित ही, आचार्य भरत के सादृश्य शब्द में रूपक की भिन्नता का स्पष्ट बोध नहीं मिलता है। सादृश्य-स्वरूप की व्याप्ति अधिक है। यदि आचार्य

भरत के सादृश्य को उपमा के लिए मूलाधार मान लिया जाए तो निम्नलिखित अलंकारों की स्वतंत्र स्थिति क्या होगी ?

रूपक—मुख रूपी कमल

उत्प्रेक्षा—मुख मानों कमल

अनन्वय—मुख मुख की भाँति

परिणाम—मुख चन्द्र से परिशमित

सन्देह—मुख है या चन्द्र

भ्रान्तिमान—मुख देखकर चकोर शान्ति का अनुभव करते हैं

इसी प्रकार अपह्नुति, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, श्लेष, अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थान्तरन्यास सभी में सादृश्य वर्तमान है। सादृश्य एक व्यापक तत्त्व बनकर अलंकारत्व का हेतु हो सकता है किन्तु केवल उपमा का नहीं। सादृश्य के साथ लगे विविध विशेषणों की स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं हो पाती, जैसे पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा निर्दिष्ट 'सुन्दर सादृश्य'। अलंकारत्व के बोध के लिए उससे सम्बद्ध चारुता का व्यंजक यह सुन्दर शब्द निरर्थक है क्योंकि उपमा होने के लिए 'अलंकार का होना' पहली अनिवार्यता है—इसीलिए अलंकार विवेचन के प्रारम्भ में 'अलंकारत्वे सति' पहले ही स्वीकार कर लिया जाता है। प्रकारान्तर से यदि काव्यालंकार का कोई भी सन्दर्भ है तो वह अनिवार्यतः सुन्दर एवं मनोहारी होगा।

साम्य—'साम्य' एवं 'तुल्य' शब्द 'सम-समान' एवं तुल्य शब्द 'तुल्' धातु (तौल, माप) तुलना में एकदम बराबर अर्थों के वाचक हैं। उपमा शब्द में मूलतः 'मा' धातु तौलने (मिमीते तदुपमानं-जिससे मापा जाए—महर्षि पतंजलि) के अर्थ में ही प्रयुक्त है। उपमा शब्द का वाचिक अर्थ है—मापा हुआ, सदृश, समान आदि। साम्य शब्द उपमा के इसी समता-वाची अर्थ की व्यंजना का वाचक है। 'साम्य' से सम्बद्ध उपमा के वाचक की व्याख्या करते हुए आचार्य भामह बताते हैं कि यथा, इव शब्द भिन्न वस्तुओं में सादृश्य प्रतिपादित करते हैं, इस प्रकार उनके द्वारा प्रतिपादित सादृश्य ही साम्य है। वे साम्य की अन्य स्थितियों पर भी प्रकाश डालते हैं—'यथा' तथा 'इव' के अभाव में समास द्वारा यह साम्य लक्षित किया जाता है—इसी प्रकार क्रिया के अन्तर्गत भी 'वति' तद्धित से भी साम्य की स्थिति प्रस्तुत की जाती है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो भामह की इस मान्यता के मूल में विशेषण (गुण), संज्ञा (नाम रूप) एवं क्रिया-व्यापार के साम्य की कल्पना दिखाई पड़ती है। तीनों से सम्बन्धित उदाहरणों—तन्वी श्यामालता, चन्द्रमुखी, लक्ष्मी तुम्हारी पत्नी की भाँति रमण करें (तव सदा रमणीयते श्री) से नितान्त स्पष्ट है। भामह के समय तक उत्प्रेक्षालंकार का अस्तित्व प्रकाश में आ चुका था। वे उसे परिभाषित नहीं करते अपितु 'उत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्' कह कर संकेत मात्र करते हैं। इस उत्प्रेक्षा के लिए भी वाचक शब्द 'यथा' एवं 'इव' ही हैं और इसमें भी मूल तत्त्व के रूप में वही साम्य है, भिन्नता इतनी ही है कि उत्प्रेक्षा का साम्य गम्यमान (कल्पित) है और उपमा का सिद्ध। केवल 'साम्य' मात्र कह देने से दोनों में भिन्नता स्पष्ट नहीं होती।

अलंकारविधान पूर्णरूपेण कवि-कल्पना व्यापार से सम्बद्ध है, और ऐसी स्थिति में 'साम्य' जैसे शब्द से कल्पनाविधान को पूर्णरूपेण स्पष्ट कर पाना सम्भव नहीं है। 'साम्य' में उपमेय तथा उपमान के बीच जिस 'समत्व' या समता की परिकल्पना की जाती है, वैसी स्थिति उपमालंकार की बनती नहीं। आलंकारिकों ने दो प्रकार के सादृश्य की चर्चा की है—

१. निश्चयधर्मिता से युक्त तत्प्रतीति

२. अनिश्चयधर्मिता से युक्त तद्वत् प्रतीति

साम्य 'शब्द' का अर्थ 'तत्प्रतीति' से है, राम की भाँति राम, चन्द्र की भाँति चन्द्र के चमत्कार को पकड़ कर अनन्वय एवं उपमेयोपमा जैसे अलंकारों की कल्पना साहित्यशास्त्रियों ने की है किन्तु बात बहुत चल नहीं पायी। अनिश्चयधर्मिता से युक्त 'तद्वत्' प्रतीति उपमा-विधान का आधार हो सकता है—साम्य से युक्त तत्प्रतीति नहीं। 'साम्य' में निश्चयात्मकता बनी रहती है किन्तु सादृश्य में निश्चयात्मकता की सम्भावना की जाती है। भामह जब 'तन्वीश्यामालता युवती' का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं तो उनका मन्तव्य यह है कि श्यामालता एवं युवती में तन्विता समान है, यदि शेष तत्त्व दोनों में से निकाल कर केवल तन्विता के आधार पर दोनों को देखा जाए तो दोनों समान हैं—वस्तुतः यह एक दूषित सम्भावना है। इस तथ्य को शब्दशक्तिवादियों में विशेष रूप से लक्षणावादी बताते हैं कि उपमा में साम्य अभिधेय स्तर पर न हो कर केवल लाक्षणिक अर्थ में लिया जाता है और यहाँ 'तन्विता में समान' पद के अन्तर्गत समान शब्द का अर्थ तुल्यादि न होकर साम्य या तुल्यता की एक कल्पित सम्भावना एवं आरोप है। युवती के तन्विता को स्पष्ट करने के लिए 'श्यामालता' की सम्भावना एक प्रतीकात्मक स्थिति है—रचनात्मक स्तर पर अतिशयता, चमत्कृति, वक्रता या लाक्षणिकता का विधान करने के लिए कवि तद्वत् स्वीकार कर लेता है—मूलतः 'युवती' एवं 'श्यामालता' में कोई साम्य नहीं है। इस स्थिति में 'तत् प्रतीतिमूलक' साम्य शब्द से तो कहीं उत्कृष्ट शब्द 'तद्वत् प्रतीतिमूलक सादृश्य शब्द' है। अग्निपुराण द्वारा कथित 'उपमेय उपमान के बीच धर्मगत उभयनिष्ठता' शब्द भी इसी प्रकार उपमात्व को निर्दिष्ट नहीं कर पाता। वस्तुतः दोनों के मूल में एक धर्म की सम्भावना-पूर्णतः काल्पनिक एवं काव्य-प्रक्रिया के अनिवार्य तत्त्व के रूप में है। 'तर्क एवं दर्शन' में जिस उपमान-प्रमाण की चर्चा की गई है, वह काव्य के लिए विशेष उपयोगी नहीं है। काव्य-वाक्य के अन्तर्गत किसी 'साम्य एवं सादृश्य' का प्रयोजन इसलिए नहीं स्वीकार किया जाता है कि मूलतः दो के बीच कोई समता है, उसका प्रयोजन तो यह है साम्य की परिकल्पना कर के उस काव्य वाक्य में रचनात्मक कौतुक कैसे उत्पन्न करा दिया जाए। मनोहर साम्य, सुन्दर साम्य जैसे विशेषण स्वभावोक्ति के धर्म हो सकते हैं, उपमा के नहीं। 'सारूप्य' शब्द तो उपमा के सन्दर्भ में नितान्त भ्रष्ट प्रयोग है।

साधर्म्य—न्याय एवं तर्क के अन्तर्गत धर्म शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में हुआ है। धर्म का सम्बन्ध उस तत्त्व विशेष से है जो ऐन्द्रिक प्रत्यक्षों एवं मानस व्यापारों द्वारा सूक्ष्म होते हुए भी बोध का विषय बनते हैं। सृष्टि के सम्पूर्ण प्रत्यक्ष एवं कल्पनानुभूत विषय व्यापार धर्मिता के आधार पर से सम्बद्ध हैं एक ही पदार्थ के विविध व्यापार अनेकानेक परिस्थितियों

में मानस-व्यापारों के अनुरूप विविध-धर्मिता के व्यंजक हो सकते हैं। वृक्ष धर्मिता का आधार भी है, और धर्म भी है। उदाहरणार्थ उसका मोटा होना, पतली टहनियों वाला होना, हरा-भरा होना, पत्तों वाला रूप, शीत में ऊष्म रहने वाला, ग्रीष्म में शीतल एवं सुखकर, रक्तपुष्पयुक्त, पुष्प की लालिमा में विलासी को उन्मत्त एवं गन्ध से विह्वल कर देने वाला, स्पर्श से मादक आदि अनेकाअनेक मानस व्यापारों के अनुकूल न जाने कितने धर्मों का समुच्चय हो सकता है। कवि कल्पना विधान के अन्तर्गत वस्तु के इसी धर्म-समुच्चय में से किसी एक का उपयोग लाक्षणिक अर्थ में करता है।

'साधर्म्य' अर्थात् सदृश **धर्मेण सम्बन्धः** या **साधारण धर्मेण सम्बन्धः** की स्थिति में इसे विद्वानों द्वारा तीन भागों में विभक्त किया गया है—

१. अनुगामी रूप साधर्म्य

२. वस्तु प्रतिवस्तु रूप साधर्म्य

३. विम्ब प्रतिविम्ब रूप साधर्म्य

अनुगामी अर्थात् उपमेय-उपमान दोनों में धर्म तत्त्व प्रायः समानान्तर दिखाई पड़ता है। वस्तु प्रतिवस्तु रूप का अर्थ है—एक न होने पर अनेक वाक्यों द्वारा उसमें एकता व्यंजित करने की चेष्टा तथा विम्ब प्रतिविम्ब रूप का अर्थ है, उपमेय एवं उपमान के बीच निहित व्यंजक सादृश्य जैसे 'तारों की जगमगाहट' को 'हीरो भरी रात' कहना आदि। जब आलंकारिक स्तर पर साधर्म्य की चर्चा करते हैं, तो इसका यह अर्थ नहीं है, जड़ एवं निष्क्रिय धर्म अलंकारत्व का अनिवार्य तत्त्व है अपितु उसका अर्थ यह है कि कवि के मानस-व्यापार के अन्तर्गत उसकी विशिष्ट आकांक्षा की गई है। यही नहीं, उसमें रचनात्मक स्तर पर कवि की आवश्यकता को पूर्ण करने की कोई विशिष्ट क्षमता अनुभूत की जा रही है। लोक-व्यापार के स्तर पर परिस्थितियों के अनुकूल विभिन्न मनोविकारों एवं आकांक्षाओं के प्रतीक रूप ये धर्म विविध विषयों की सार्थकता-निरर्थकता के भी प्रतीक समझे जाते हैं। व्यावहारिक स्तर पर धर्म अनुभव के विषय हैं—गोचर एवं अगोचर दोनों रूपों में, किन्तु रचनात्मक स्तर पर जब भी इनका प्रयोग होता है, ये लाक्षणिक हो जाते हैं। वृक्ष में लताएँ और शाखाएँ भी हैं, यह धर्मगत अनुभव है किन्तु 'लता निहारि नवहिं तरु सारवा' एक विशिष्ट सन्दर्भ में कवि की आकांक्षा की पूर्ति के लिए प्रयुक्त धर्मों का प्रयोग है। इस प्रकार रचनात्मक स्तर पर रचनाकार द्वारा धर्म के सादृश्य की आकांक्षा को व्यक्त करने की चेष्टा, उपमा के मूल में है। जैसा कि आचार्य राजानक रूय्यक ने स्वीकार किया है—धर्मयुक्त सादृश्य के तीन भेद सम्भावित हैं—

१. भेद प्रधान सादृश्य

२. अभेद प्रधान सादृश्य

३. भेदाभेद प्रधान सादृश्य

१. भेद प्रधान सादृश्य—जहाँ भेद की सम्भावना होते हुए भी उपमेय तथा उपमना दोनों के धर्मों को पूर्णतया पृथक्-पृथक् स्पष्ट किया जाए—जैसे व्यतिरेक अलंकार—

घनी पलकों से युक्त तुम्हारे अरुणवर्ण नेत्र उजले भी हैं और काले भी किन्तु श्वेत कमल या नील कमल या तो बिल्कुल उजले होते हैं या बिल्कुल काले।

श्वेत कमल श्वेत हैं, नील कमल नीले हैं किन्तु नेत्र उजले (नील कमल से भिन्न), नीले (श्वेत कमल से भिन्न), अरुण वर्ण दोनों से भिन्न और इस प्रकार सादृश्य संभावित होते हुए भी नहीं है।

२. अभेद प्रधान सादृश्य या तुल्यता—उपमेय तथा उपमान के बीच धर्मगत सादृश्य कहीं-कहीं नितान्त संश्लिष्ट हो जाता है। रूपक तथा अपह्नुति इसके उदाहरण हैं। रूपक में संश्लेषण का कारण अध्यवसान या निगीर्णन है, और अपह्नुति में विभ्रम दोनों में सादृश्य व्यंग्यभाव से वर्त्तमान है। परम्परा का रूपक के विषय में यह कथन कि "उपमैव तिरोभूत-भेदारूपकमिष्यते" अर्थात् उपमा ही अपने स्वरूप भेद को तिरोहित किए हुए रूपक के रूप में प्रकट होती है, से स्पष्ट है कि सादृश्य यहाँ भी है किन्तु संश्लेषण के कारण उपमा नहीं है।

३. भेदाभेद प्रधान तुल्यता—इस सन्दर्भ में इसकी स्थिति विचारणीय है।

(क) भेद—अर्थात् अवास्तविकता या भिन्नता होते हुए भी,

(ख) अभेद—अर्थात् वास्तविकता एवं अभिन्नता की सम्भावना स्वीकार की जाती है।

वस्तुतः उपमा सादृश्य मात्र नहीं है क्योंकि इसमें सम्भावना के माध्यम से उत्पन्न विशिष्ट प्रकार के प्रयोग का सुन्दर रूप तत्सम्बद्ध अर्थगत वक्रता तथा लाक्षणिकता आदि अपेक्षित हैं जिन्हें शुद्ध रचनात्मकता की देन के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। सादृश्य केवल साधर्म्य का व्यंजक है और भेदाभेद प्रधान तुल्यता में भिन्नता के सत्य को स्वीकार करते हुए भी ऐसे धर्मगत सादृश्य का आधार बनाया जा सकता है, जो सादृश्य की सम्भावना को रचनात्मक स्तर पर किसी तरह सूचित करता हो, यह आवश्यक नहीं कि उपमेय-उपमान के बीच कोई सादृश्य पहले से निहित रहता है। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है—"पीपर पात सरिस मन डोला।"

१. पीपल के पत्ते का निरन्तर हिलना एक अभिधेय व्यापार है।

२. मन का निरन्तर चंचल रहना भी एक अभिधेय व्यापार है।

अभिधेय-स्तर पर दोनों वाक्य दो अर्थों के व्यंजक हैं—'पत्ते का हिलना' और 'मन का चंचल रहना' दोनों सर्वथा भिन्न व्यापार हैं किन्तु रचनाकार अपनी किसी अर्थ की आकांक्षा के लिए 'हिलने' एवं 'चंचल' पर एक को हटा कर दूसरे का आरोपण करता है। इसमें कोई आवश्यक नहीं है कि पीपल के पत्ते की तरह मन डोल रहा है, कभी यह भी हो सकता है कि मन की भाँति पीपल का पत्ता भी डोले, यह कवि की अपनी काव्यार्थ विषयक आकांक्षा पर आश्रित है। यहाँ कवि 'मन' तथा 'पीपल-पात' दोनों के बीच गति या क्रिया के सम्भावित सादृश्य को गढ़ता है। इस स्तर पर कविता की भाषा और अर्थ में जिस चमत्कार की सृष्टि होती, उसकी व्याख्या लक्षणा व्यापार के माध्यम से की जाती है। आचार्य वामन ने ठीक ही इस आरोपण को **"सादृश्य लक्षणा वक्रोक्तिः"** के माध्यम से स्पष्ट करने की चेष्टा की है। ऐसी स्थिति में उक्त काव्य-वाक्य में 'डोला' शब्द का अर्थ हिलने से न हो कर 'चंचल' से होगा—पत्ते

के 'डोलने' का वाच्यार्थ नितान्त गौण पत्रवाची स्थिति में ही रहेगा। निस्सन्देह साधर्म्य उपमेय से परिशासित होता है, उपमान से नहीं। उपमालंकार में उपमेय के किसी विशिष्ट धर्मगत अर्थ एवं भाव-विशेष को स्पष्ट करने की आकांक्षा के लिए उपमान के धर्म विशेष का उपयोग किया जाता है और इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि उपमेय एवं उपमान इन दोनों में नितान्त धर्मगत भिन्नता बनी रहती है। इसी भिन्नता के ही कारण उपमालंकार विशेष में भाविक तथा अर्थगत चमत्कार उत्पन्न होता है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि उपमेय एवं उपमान के बीच नितान्त भिन्नता के होते हुए भी रचनाकार एक अभेदमूलक सादृश्य की सम्भावना का उपयोग कर के उपमालंकार की रचना करता है। उपमा के चारुत्व में उसके अभेद से अधिक उपयोगी उसका भेद तत्त्व है।

विविधा

जमाल और उनके दोहे

डॉ० किशोरीलाल

जमाल कौन थे, कहाँ के रहने वाले थे और उनका किस वंश से सम्बन्ध था आदि बातों को लेकर हिन्दी-साहित्य के विद्वान् एकमत नहीं हैं। जमाल के सम्बन्ध में सर्वप्रथम ठाकुर शिव सिंह ने अपने 'सरोज' में लिखा था कि—"यह कवि गूढ़कूट में बहुत निपुण थे। इनके दोहे बहुत सुंदर हैं।"[१] इसके साथ ही उन्होंने एक जमालुद्दीन कवि का भी उल्लेख किया है जो पिहानी के रहने वाले कहे गये हैं।[२] डा० ए० जी० ग्रियर्सन ने इन दोनों के एक होने की संभावना की है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने इतिहास में लिखा है—"No particulars. He is possibly the same as a Jamal Kabi whom Shiva Singh gives as born in 1545 A.D. and as being skilled in emblimatic Varses (कूट)"[३] मिश्रबन्धुओं ने भी जमाल विषयक किसी महत्त्वपूर्ण विवरण का संकेत नहीं किया। उन्होंने अपने 'विनोद' में केवल इतना ही लिखा है—"नाम-(२३०) जमाल। ग्रन्थ—(१) जमाल पचीसी। (२) भक्तमाल की टिप्पणी। जन्म संवत् १६०२। रचना-काल-१६२७। विवरण—गूढ़ काव्य बनाया है। साधारण श्रेणी।"[४] उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि जमाल एक मुसलमान कवि थे और उन्होंने कूटात्मक शैली की रचना की थी। पर श्रीयुत् पन्नालाल भैया गयावारदराज उपाध्या नागपुर उपनाम 'छैल' कवि ने जमाल के बारे में जो कुछ लिखा है, वह उक्त विद्वानों के मत से प्राय: मेल रहीं खाता। उन्होंने सन् १९१५ में 'जमालमाला' नाम से जमाल के १०८ कूटात्मक शैली के दोहों का संग्रह लहरी प्रेस, बनारस से प्रकाशित कराया था। इस संग्रह में प्रत्येक दोहे के साथ 'छैल' कवि की कुंडलियां भी संलग्न है, जो यत्किंचित् जमाल के गूढ़-गंभीर दोहों के अर्थ का संकेत भी कर देती है, पर यह संकेत सर्वत्र नहीं मिलता। 'जमाल-माला' की भूमिका में छैल कवि ने जमाल को एक बन्दीजन माना है और उनकी जन्मभूमि उदयपुर राज्यान्तर्गत देवली नामक ग्राम बतायी है। इसका विशेष विवरण उन्होंने यों दिया है—

---

१. शिवसिरोज—ठा० शिव सिंह, पृ० ४२२, सन् १९२६ का संस्करण।

२. वही, पृ० ४२२।

३. The Modern Vernacular Literature of Hindustan—A.G. Grierson, Page 33.

४. मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम भाग, पृ० २६५, पाँचवां संस्करण, सं० २०१३।

"यह महाशय सन् १६०२ ईस्वी में उत्पन्न हुए और सन् १६६२ ईस्वी में इनकी मृत्यु हुई। यह जात के बन्दीजन थे इनके पिता का नाम अवध कवि था। ये तीन भाई थे, तीनों बड़े धुरन्धर कवि थे इनमें से सब से बड़े लाल कवि बाद जमाल कवि इनके बाद देव या जैदेव कवि थे। लाल कवि का चित्रकाव्य अत्यंत प्रशंसनीय था और उक्त दोनों भाई शृंगाररस के पूर्ण ज्ञाता थे। इनकी जन्मभूमि देवली ग्राम उदैपुर राज्य में थी और राज दरबार में इनकी बड़ी कदर थी। अपने केवल व्यंग्यकूट दोहों से महाराज को अति-प्रसन्न रखते थे कि जिसके फल से दरबार में उक्त कवि को अत्यंत द्रव्य प्राप्त हुआ और जलपुर नामक ग्राम इन्हें मिला जो कवि महाशय ने जलपुर से जमालपुर नाम रखा जो आज तक विद्यमान है और उनके वंश में भानु कवि वर्त्तमान हैं कि जिनसे मुझे श्री काशीपुरी में साक्षात् हुई और वीर रस की कविता उत्तम है, इन्हीं की कृपा से जमाल कवि रचित कोई सौ दोहे के अन्दाज प्राप्त हुए ?।[1]" छैल कवि के इस विवरण से सिद्ध है कि जमाल और जमालुद्दीन एक ही नहीं थे, और कम-से-कम जमाल पिहानी (जिला हरदोई) के रहने वाले नहीं थे। मेरी धारणा है कि पिहानी के रहने वाले जमालुद्दीन ही हो सकते हैं, जिन्हें डा० ग्रियर्सन ने जमाल से जोड़ देने का भ्रांतिमूलक प्रयास किया था। डा० किशोरीलाल गुप्त ने अपने 'सरोज सर्वेक्षण' में ग्रियर्सन के ही मत को स्वीकार किया है और जमाल को पिहानी का निवासी सिद्ध किया है। उन्होंने जमाल के एक दोहे के आधार पर अपने कथन की पूर्ण पुष्टि की है। इस सम्बन्ध में उन्होंने जमाल का जो दोहा उद्‌धृत किया है, वह इस प्रकार है—

गलियन गलियन गरकि गइ, गति गोमति की आज।
विकल लोग, यह तिय खुशी, कह जमाल किहि काज।।[2]

डा० गुप्त का कहना है कि "पिहानी जिला हरदोई में गोमती नदी के किनारे स्थित है।" इसके आगे उन्होंने यह भी कहा है कि मनीषी समर्थदान जमाल को पिहानी का ही रहने वाले मानते हैं। पर यह दोहा इन्हीं जमाल का है, इस सम्बन्ध में सन्देह की पूरी गुंजाइश अभी बनी हुई है। क्योंकि इनके दोहों में अन्य कवियों के भी बहुत से दोहे मिल गए हैं। इनके नाम पर अभी तक खोज रिपोर्टों में तीन ग्रन्थ बतलाए गए हैं—

१. जमाल पचीसी १९१२।८२ ए०
२. स्फुट दोहे १९२०।६५
३. भक्तिमाल की टिप्पणी १९१२। बी०

इन तीनों ग्रन्थों में जमाल पचीसी इनके २५ दोहों का संग्रह मात्र है। इस संग्रह का पहला दोहा है—

तृषावंत भई कामिनी गई सरोवर पाल। सर सूख्यौ आनंद भयो कारन कौन जमाल।

और अंतिम दोहा यों है—

शुतर गिर्‌यौ महराय के जब आ पहुँच्यौ काल। अल्प मृत्यु कूँ देखि के जोगी भयो जमाल।

---

१. जमालमाला—सं० छैल कवि, पृ० ३ (भूमिका भाग)।
२. सरोज सर्वेक्षण—डॉ० किशोरीलाल गुप्त, पृ० ३१४।

इनकी तीसरी पुस्तक 'भक्तिमाल की टिप्पणी' के सम्बन्ध में खोज रिपोर्ट में जो विवरण दिया गया है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह जमाल की रचना नहीं है। किसी अन्य कवि या भक्त ने इसकी वार्ता लिखी है और बीच-बीच में बिहारी जैसे कवियों के दोहे भी उसमें मिला दिये हैं। यथा, बिहारी का प्रसिद्ध दोहा—'लिखन बैठी जाकी सबी गहि गहि गरब 'गरूर' इसमें मिल जाता है।[१] ऐसी स्थिति में गोमती नदी के उल्लेखानुसार उन्हें पिहानी का निवासी सिद्ध करना अधिक तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। पुनः सरोजकार ने जलालुद्दीन के कवित्तों के 'हजारा' में होने की बात भी कही है। डा० किशोरीलाल गुप्त ने बताया है कि 'हजारा' में इनका एक सवैया उद्धृत है। सवैयों की भरमार सं० १६४० के आस-पास हुई। अतः सं० १६१५ इनका जन्मकाल माना जा सकता है।'[२] किन्तु मेरा अनुमान है कि कूटात्मक शैली की रचना करने वाले जमाल से जमालुद्दीन भिन्न थे और ये कवित्त और सवैया शैली के मुक्तककार थे, हजारा में प्राप्त उस सवैये से इस कथन की अधिक पुष्टि हो जाती है। दूसरा तर्क यह है कि जिस 'कालिदास हजारा' की चर्चा की जाती है वह अब प्रमाणित हो चुका है कि १९वीं शताब्दी का यह एक संग्रह ग्रन्थ है जिसे किसी काव्य रसिक ने किया है न कि कालिदास ने। अतः अब कोई कारण नहीं बचता कि हम जमालुद्दीन को घसीट कर अकबर के शासनकाल तक ले जाँय। मेरे विचार से ये १८वीं शताब्दी के कवि ठहरते हैं। श्री महावीरप्रसाद सिंह गहलौत ने अब तक प्राप्त सभी दोहों का संकलन' जमाल दोहावली' नाम से प्रकाशित करवा दिया है। गहलौत जी ने कूटशैली के जमाल को अकबर-कालीन सिद्ध किया है। अतः इस आधार पर डा० गुप्त ने इनका समय सन् १६०२ माना है और इसे जमाल का उपस्थित-काल बताया है।[३] छैल कवि ने इन्हें हिन्दू कवि माना है, पर यह बहुत साधार प्रतीत नहीं होता। किसी हिन्दू व्यक्ति का नाम जमाल कैसे पड़ा, यह पूर्ण विचारणीय है। हाँ, इनकी जन्मभूमि उदयपुर ही प्रतीत होती है। इनके दोहे प्रायः वहीं से अधिकांशतः प्राप्त भी हुए हैं, अतः यह भी उनके जन्मस्थान की पुष्टि में कुछ सहायक हो सकता है। इधर जमाल के सम्बन्ध में काशीवासी आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने कुछ रोचक और नयी चर्चा की है। आचार्य मिश्र ने काशी के प्रसिद्ध वैद्य और काव्य रसिक पण्डित चुन्नीलाल के किंवदन्ती के अनुसार जमाल को रहीम का पुत्र बताया है। उनका कथन है कि 'जमाल' हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना के पुत्र थे, बड़े ही कुशाग्र बुद्धि और प्रत्युत्पन्न मति। पर ये भोग विलास के चक्कर में इतने अधिक पड़ गए कि रंग महल के बाहर नैत्यिक कृत्यों के ही लिए निकलते थे। इससे इन्हें विरत करने के लिए और इनकी कुशाग्र बुद्धि से काव्य-रचना का काम लेने के लिए खानखाना साहब ने रंग महल के द्वार पर नित्य एक कूट दोहा लिखवा देने का ब्योंत बाँधा, जिसे पढ़ कर जमाल उसके तात्पर्य की खोज में बहुत देर तक लगे रहते और अन्त में उसका प्रकृत या

१. खोज रिपोर्ट—सं० मिश्रबन्धु, पृ० ११४ (१९१२, १३, १४ की रिपोर्ट)।
२. सरोज सर्वेक्षण—डॉ० गुप्त, पृ० ३१८,
३. वही, पृ० ४।

व्यंजित अर्थ निकाल कर द्वार पर ही दोहे के रूप में लिख दिया करते। जो दोहे जमाल के नाम पर मिलते हैं वे वस्तुतः द्वार पर लिखे गए दोहे हैं, जिनमें जमाल से प्रश्न किया गया है। उनके उत्तर वाले दोहे नहीं मिलते।[1] यद्यपि जमाल के प्रश्नोत्तर वाले दोहे नहीं मिलतें, फिर भी प्रत्येक दोहे में गूढ़ भाव संवलित उत्तर इस रूप में जुड़े हैं जिन्हें काव्य पारखी और नायिका भेद के पंडित किसी-न-किसी रूप में निकाल ही लेते हैं। जमाल ने प्रहेलिका, चित्र काव्यान्तर्गत अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका के साथ ही अंकावली विद्या का चमत्कार यथास्थल प्रदर्शित किया है। अंकावली विद्या से संबंधित पाँच अतिशय कठिन और गूढ़ दोहों का मर्मोद्घाटन कर के आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने बड़ों-बड़ों को चकित कर दिया। 'जमालमाला' में अन्तर्लापिका और बहिर्लापिका वाले चार ऐसे दोहे मिले हैं, जिनके वास्तविक अर्थ की कठिनाइयाँ अभी भी बनी हुई हैं। उदाहरणार्थ उनमें से बानगी तौर पर एक दोहा दिया जा रहा—

जम्बू लहसुन दीन तिंहि, मिर्च लोन करि मेल।
अटकत आई श्याम पहँ, कह जमाल का खेल।।[2]

वस्तुतः जमाल की काव्यशैली का बहुत कुछ अनुकरण 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' के रचयिता प्रतापसिंह ने किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि जमाल के नायिका भेद की बारीकियों का बहुत काफी प्रभाव बिहारी पर भी पड़ा होगा। लक्ष्यबद्ध काव्य के अन्तर्गत नायिका भेद के सभी लक्षण जैसे बिहारी के दोहे में मिल जाते हैं, उसी प्रकार की पद्धति का काव्य जमाल का भी है जिसमें नायिका भेद पूर्णतया मुखरित है और शृंगारिक काव्य की प्रकृत चेतना उसमें अपने पूरे बल के साथ स्पंदित है। जमाल की इस काव्य शैली का अनुकरण काफी लम्बे समय तक होता रहा। इस काव्य परम्परा का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ वृहद् व्यंग्यार्थ चंद्रिका है, जिसके रचयिता गुलाब कवि कहे जाते हैं, यह ग्रन्थ लीथो छापे में भारत जीवन प्रेस, काशी से मुद्रित भी हो चुका है। वृन्द कवि के 'भाव-पंचाशिका' पर भी जमाल का पूर्ण प्रभाव लक्षित होता है उदाहरणार्थ एक छन्द लीजिए—

सावन मास भयो मन भावन घोर घमंड घटा घहराई।
खेलन कौं बन मांहि चली मिलि संग सखी बनि अंग सुहाई।
वृन्द कहैं फिरि आवत ही घन की घन बूंदन सौं छिति छाई।
क्यों न उताल सुचाल चली वह ? भीजत भीजत गेहलौं आई।।[3]

इस छंद के अंतिम चरण में कवि ने जमाल की ही भाँति प्रश्न किया है। वृन्द के कथनानुसार वह नायिका धीरे-धीरे वन से क्यों लौटी जल्दी-जल्दी क्यों नहीं आई और भीजते हुए क्यों घर लौटी। कवि ने इसी के नीचे उत्तरमाल भी जोड़ दी है और तदनुसार इसका उत्तर यह हुआ

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत (द्वितीय भाग)—आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ७७४, प्र० सं०। २, जमाल माला—दो० सं० १०५।

३. भाव पंचाशिका—छं० सं० १२।

कि नायिका अपनी सास और ननंद से डरती थी और उसे शंका थी कि कहीं जल्दी-जल्दी चलने से श्वास न बढ़ जाय और पसीना न निकल आए जिसमें मैं कुलटा समझी जाऊँ। पर जमाल की उत्तरमाला नहीं मिलती। उत्तर न मिलने से जमाल के दोहे केवल नायिका भेद के उस्ताद लोगों के ही काम के हैं, सामान्य पाठक और गूढ़ व्यंग्य से अनभिज्ञ प्रमाता के लिए वह व्यर्थ प्रमाणित होता है। इसमें संदेह नहीं कि आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रताप साहि के संदर्भ में जिस वस्तु व्यंजना की शिकायत की है,[१] उसकी सच्ची झलक जमाल के दोहों में प्रायः मिल जाती है। इनके भी दोहों में चक्करदार ऊहा का सहारा लिए विना कवि की अभीष्ट भाव-व्यंजना तक पहुँचना अति कठिन है। हम इसकी सम्यक् पुष्टि के लिए उनके कुछ दोहों के वैशिष्ट्य पर विचार करना चाहेंगे। पहले जमाल का यह दोहा लीजिए—

कुंजड़िन लो परवर कही, भई क्रोध इकबाल।
मूंड़ मुड़ा चूनो मली, काजर देत जमाल ।।[२]

इस दोहे का आशय यह है कि कुंजड़िन ने जव परवर नाम लिया तो नायिका को बड़ा क्रोध हुआ, उसने परवर का अर्थ पर पति अर्थ किया। चूंकि वह नायिका स्वाधीन पति की है, इसीलिए कुंजड़िन को यह वाणी उसके लिए असह्य थी और इसी से उसने उसके सिर को मुड़वा कर चूना लगा दिया और इसके बाद कालिख पोत दी। यह उसके लिए सबसे कठोर दण्ड था। इसी प्रकार अब एक मुग्धा सलज्ज नायिका का चित्र लें। वह सिर झुका कर माला गूंथ रही है लेकिन गूंथने के बहाने चुपके से समीपस्थ नायक को भी देख रही है। वह माला गूंथने पर उसे शीघ्र इसलिए तोड़ देती है कि पुनः गूंथने के बहाने नायक को देखे—

गुहि गुहि माल गुलाब की, बाल देति क्यों तोरि।
पुर्नाहं गुहति तोरति पुर्नाहं, गुहति जमाल बहोरि ।।[३]

कभी-कभी वस्तु व्यंजना को कवि इतनी दूर तक घसीट ले जाता है कि जो उसकी कारीगरी और मज़मन से वाकिफ नहीं हैं उनके लिए यह सचमुच एक पहेली बन जाती है। इस संबंध में एक उदाहरण लें—

नजर बचार्वाहं सर्बाहं की, परसत नायन पायँ।
झकि झुकि कछु कानन कहति, कहे जमाल यह काँय।।[४]

चूंकि नायिका अज्ञात यौवना है, अतः उसे अपने बढ़ते हुए स्तनों का ज्ञान नहीं है। वह कंचुकी के कस जाने पर सब की नजर बचा कर नायन से कान में कहती है कि कंचुकी जरा ढीली कर

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास——रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ३१६, सं० २००३ का सं०।
२. जमालमाला——दो० सं० ५८।
३. जमाल माला——दो० सं० ८४।
४. जमाल माला——दो० ८२।

दे, कस क्यों दी ! जमाल ने नायिका के सहज लावण्य का भी बड़ा ही मोहक चित्र खींचा है। वस्तुतः उसके शरीर की स्वर्ण-कांति के समक्ष उसकी नाक की नथुनी व्यर्थ और भद्दी लगती है। शरीर की पीतांग के सामने स्वर्ण रंग फीका प्रतीत होता है, अतः उसकी सखी उस नथ को उतार लेने का आग्रह करती है—

प्रीतम नहिं कछु लखि सक्यो, आली-कहि तिय कान।
नथ उतारि धरि नाक ते, कह जमाल का जान।।[१]

उसी प्रकार उत्कंठिता नायिका का एक नमूना लें। इसमें यमक के चमत्कार की भी पूर्ण रक्षा की गई है—

पीरी लखि पीरी उठी, पीरी लगी पिराय।
पीरी कहँ पीरी परी, कह जमाल समुझाय।।[१]

आकाश की पीत आभा देख कर सुबह जान कर। उसमें पीड़ा उत्पन्न हो गई और उसकी पसली में दर्द होने लगा। वह अपनी सखी से पूछने लगी अरी प्रियतम कहाँ हैं? इतना कह कर वह पीली पड़ गई। जमाल ने अपनी गूढ़ व्यंजना के अन्तर्गत विपरीत रति तक का चित्र खड़ा कर दिया है, जिसे समझ पाना सब के लिए सुगम नहीं—यथा—

भू पर की फरसी तजी ऊपर कौल जगाय।
का लीला करती तिया, कह जमाल समुझाय।।[२]

प्रोषित पति का विषयक एक छंद में जमाल का कमाल द्रष्टव्य है—

बिनहि मौलि धड़ लिखति लखि निज आँगन मह बाल।
लवँग पुष्प चहुँ ओर धरि, कारण कवन जमाल।।

वस्तुतः विरहिणी नायिका अपने आँगन में उदित चन्द्र से संतप्त हो रही है, उससे अपनी रक्षा के लिए वह बिना सिर के धड़ (राहु) की प्रतिमा बना कर उसके चारों ओर लवंग चुवा रख कर पूजा करने लगी। जमाल के इन थोड़े से दोहों के नमूने से स्पष्ट है कि वे गूढ़ काव्य के कितने मर्मी थे।

⊙

रीतिकालीन हिन्दी-काव्य और उर्दू-कविता में नायिका तथा माशूक की स्थिति

डॉ० मोहन अवस्थी

रीतिकालीन समाज राजनैतिक दृष्टि से पूर्ण उत्कर्ष एवं पूर्ण पतन का काल है। शाहजहाँ (राज्यकाल १६२७-१६५८) के समय में मुगल-वैभव अपनी पराकाष्ठा पर था।

---

१. वही, दो० सं० ८१।
२. वही, दो० सं० ८३।

जीवन में भोग-विलास तथा सजावट आ गई थी। औरंगजेब की मृत्यु (सन् १७०७) के बाद मुग़ल-साम्राज्य का द्रुतगति से पतन हुआ। शासक अशक्त तथा निर्वीर्य थे। तलवार उनके बूते की नहीं थी, इसलिए जीवन-संघर्ष भुलाने के लिए सुरा-सुन्दरी के आश्रित रहते थे। मुग़लों का शासन छिन्न-भिन्न हो जाने से मांडलिक राजा-नवाब स्वतंत्र हो गए। स्वतंत्र राजा-नवाबों में मुग़ल बादशाहों से होड़ लेने की प्रवृत्ति जगी, अतः अपनी शान-शौक़त बढ़ाने लगे। कुछ अनुकरणवश और कुछ वास्तविक जोश ने उन्हें सुरा-सुन्दरी की ओर उन्मुख किया। आशय यह कि मुग़ल बादशाह जीवन में निराशा की प्रबलता के कारण संकुचित होकर रमणी-भोग-केन्द्रित हुए थे, लेकिन अन्य शासकों को स्वच्छन्दता-भरे जीवन की उल्लास-स्फूर्ति के कारण सुरा-सुन्दरी की आवश्यकता महसूस हुई। रीतिकालीन राजनैतिक उत्थान-पतनोद्भूत परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों में भी सामंत वर्ग के भीतर यह भोग-प्रवृत्ति एक समान मिलने का यही कारण है। इस स्थिति में काव्य का स्वर श्रृंगार रस-प्रधान हो गया, क्योंकि तत्कालीन कवि अथवा शायर जिस जीवन से काव्योपकरण संकलित करता था उसमें श्रृंगार-प्रवृत्ति बहुत बढ़ी हुई थी। सम्पत्ति और श्रृंगार पर्यायवाची बन गए थे—

'देव' सबै सुखदायक सम्पति, सम्पति सर्वसु दम्पति जोरी।
दम्पति दीपति प्रेम प्रतीति, प्रतीति की रीति सनेह निचोरी।।
प्रीति जहाँ रसरीति विचार, विचार की बानी सुधारस बोरी।
बानी को सार बखान्यो सिंगार, सिंगार को सार किसोर-किसोरी।।

'देव के कथन से सुव्यक्त है कि रीतिकालीन वाणी (काव्य) का सार श्रृंगार रस ने और इस श्रृंगार के सार हैं किशोर-किशोरी। परन्तु किशोर-किशोरी में भी किशोरी की महत्ता अधिक मानी गई है—

नौरस में श्रृंगार रस सब तें नीको आहि।
तामैं नीकी नाइका बर्नत हौं अब ताहि।।

—सुंदर

वाणी का सार श्रृंगार होने से हिन्दी-रीतिकवियों ने अन्य रसों को स्पर्श मात्र कर के श्रृंगार रस का अत्यन्त विस्तार से निरूपण किया और उस निरूपण में नायिका को दृष्टिपथ में बराबर रक्खा है। आलोच्यकालीन उर्दू-शायरी में भी श्रृंगार की ही प्रधानता है।

रति की स्थिति किशोर-किशोरी के भीतर होने से एक आलम्बन होता है और दूसरा आश्रय इन्हें लौकिक भाषा में प्रेमी-प्रेमिका या आशिक़-माशूक़ कहते हैं। काव्य-शास्त्र में इनकी संज्ञा नायक-नायिका है। रीतिकालीन हिन्दी-कविता में जितना महत्व नायिका का है, उर्दू-शायरी में उतना ही प्राधान्य माशूक़ को प्राप्त है, परन्तु नायिका तथा माशूक़ प्रेमालम्बन होने पर भी प्रकृत्या समान नहीं हैं।

हिन्दी में नायिका-भेद के सिलसिले में प्रायः अवस्था-भेद से 'दश नायिका' मान्य रही हैं। इन नायिकाओं का सम्बन्ध उर्दू-कविता के माशूक़ से नहीं जोड़ा जा सकता। उर्दू-माशूक़

नित्यालम्बन रहने से वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता, स्वाधीनवल्लभा, कलहांतरिता, खंडिता, विप्रलब्धा, प्रोषितवल्लभा और अभिसरिका में से किसी भी वर्ग के अन्तर्गत नहीं आता है।

स्वाधीनवल्लभा वह नायिका है जिसे नायक के प्रेम पर एकाधिकार प्राप्त हो। वह अनूढा स्वकीया अथवा परकीया हो सकती है। यही नहीं, वयानुसार वह मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा भी होगी।

हिन्दी रीतकाव्य में स्वकीया, परकीया तथा सामान्या तीनों के उल्लेख होने पर भी सबसे अधिक उदाहरण परकीया के दिए गए हैं। फ़ारसी और उर्दू-कविता में स्वकीयेतर प्रेम-चित्रण का आधिक्य देख कर समालोचक एवं साहित्य-इतिहास-लेखक हिन्दी के नायिका भेद पर उसका प्रभाव फ़ौरन दिखाने लगते हैं। लेकिन उनका यह कथन परम्परा-अज्ञान का प्रतिफल है। परकीया भारतीय काव्य-शास्त्र में कोई नई चीज़ नहीं है। वात्स्यायन ने स्त्रियों के कन्या, भार्या, परदारा तथा वेश्या, चार प्रकार बताए हैं। इसलिए यह कहना कि परकीया-प्रेम-वर्णन पर विदेशी प्रभाव है, अविचारित उद्घोषणा है। रीतिकालीन नायिका-भेद संस्कृत-चिन्तन का तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति-जन्य मनोवैज्ञानिक पल्लवन है, फ़ारसी या उर्दू-कविता का अनुधावन नहीं है।

उर्दू-काव्य का माशूक़ विवाहित नहीं होता, अतः वह स्वकीया नहीं है। परन्तु यदि वह नायिका है, तो किस वर्ग में आएगा यह विचारणीय है? नायिका होने की जो योग्यताएँ आचार्यों द्वारा उल्लिखित हैं, उनमें सौन्दर्य प्रमुख है। उर्दू-शायरी में माशूक़ को अनिंद्य सुन्दर होने क कारण यूसुफ द्वितीय कहा जाता है। चूँकि हज़रते यूसुफ दास थे, उन्हें मिस्र के बाजार में वेचा गया था, इसलिये माशूक के बिकने का वर्णन भी किया जाता है—

> शायद मताए हुस्न खुली है किसू की आज।
> हंगामा हश्र का-सा है बाज़ार की तरफ़॥

—मीर

जब माशूक़ के हुस्न की ख़रीद-फ़रोख्त होने लगी तो उसका भाव भी घटने-बढ़ने लगा। वह कभी मोतियों के भाव बिका, कभी गेहूँ के भाव—

> जो हुस्न मोतियों की तोल उन दिनों बिका।
> तूने बनिर्खे गंदुम उसकी घड़ी लगाई॥

—सौदा

इन वर्णनों से उर्दू-कविता का माशूक़ नायिका-भेद के अनुसार सामान्या की कोटि में आना चाहिए। वह वादा करके वचन-भंग करने वाला, आशिक़ को कटाक्षाहत कर प्रसन्न होने वाला, प्रेम जोड़ने के अभिनय में दक्ष और अनेक प्रति-प्रेमियों का आश्ना बताया गया है। हिन्दी-रीति कविता में ऐसी नायिका के नमूने हैं—

एकनि सों मिलबे को सहेट बद्यो एक सों हित हेत निहोरति।
एकनि सों चितबै चित दै तिय एकनि सों मुरि भौंहैं मरोरति।।
भोर ते साम लौं काम इहै 'रघुनाथ' अनेकनि के मन बोरति।
चोरत एकनि के चित कों हित एक सों तोरति, एक सों जोरति।।

लेकिन इस प्रकार की प्रेम-व्यापार-प्रवीणा नायिका को कुलटा कहा गया है। उर्दू-काव्य का माशूक़ भी इसी कोटि में आएगा, क्योंकि ऐसे कोई संकेत उर्दू-शायरी में नहीं मिलते जिनसे प्रकट हो कि उसका रक़ीबों (प्रति-प्रेमियों) के साथ रहना लोभवश है। माशूक़ का रक़ीबों से मिलना यदि धनादि के लोभ से होता तो हम उसे सामान्या के वर्ग में रखते। यह मिलन स्वच्छन्दाचरण के कारण हो सकता है, अतः वह कुलटा है—

कुलटा को यों सुकबि सब बरनत है करि नेम।
बिना द्रव्य जो करति है बहु पुरुषन सों प्रेम।।

——रघुनाथ

परन्तु माशूक़ में कुलटा से अनेक बातों में भिन्नता है। वह क़ातिल है। आशिक़ों को क़त्ल करना उसका खेल है। तलवार, चाक़ू, नाज़ो-अदा आदि में से आशिक़ किसी-न-किसी का लक्ष्य बन ही जाता है। इनके अतिरिक्त वह लात, घूँसे और मुक्के का इस्तेमाल भी करता है—

मज़े को इश्क़ की ज़िल्लत के जानता है वही।
किसी की जिनने कभी लात मुक्की खाई हो।।

——मीर

आशिक़ ही नहीं, उसके अत्याचार की लपेट से आशिक़ के संदेशवाहक भी नहीं बचते। वह पत्रवाहक की गर्दन उड़ा देता है और यदि कबूतर पत्र लेकर जाय तो उसका पर ढूँढ़े नहीं मिलता—

क्या है 'नासिख़' जवाबे-ख़त का ज़िक्र।
न मिला एक पर कबूतर का।।

——नासिख़

और ज़रा उसका शौक़ देखिए। कभी वह आशिक़ के खून की मेंहदी लगाता है, कभी कबूतर के खून को पैरों में मलता है वह न केवल आशिक़ों का खून करता है, अपितु चुल्लू में भर कर उसे पी भी लेता है—

चुल्लू में उसके मेरा लहू था सो पी चुका ——मीर

गाली देना उसके स्वभाव में दाख़िल है। वह मुँह भी चिढ़ाता है और निष्ठुर इतना कि आशिक़ के मर जाने पर भी नहीं पसीजता—

मर गए पर भी तग़ाफ़ुल ही रहा आने में।
बेवफ़ा पूछे है क्या देर है ले जाने में।।

——ज़ौक़

आशिक़ उसकी गली में इसलिए मरना चाहता है कि उसकी क़ब्र वहीं बने। मगर वह आशिक़ों की हड्डियाँ खुदवा कर फिंकवा देता है—

हड्डियाँ खुदवाके फिंकवा दी हैं उस सफ़्फ़ाक ने।
आशिक़ों के मुरदे अपने-अपने मदफन में नहीं॥

—आतश

तात्पर्य यह कि माशूक़ का रुझान आशिक़ की ओर नहीं होता। आशिक़ के प्रति उसके अवध्यान का कारण है उसकी शंकालुता। आशिक़ अपना पूरा जीवन माशूक़ के लिए गुज़ार देता है फिर भी माशूक़ को उस पर विश्वास नहीं होता। हिन्दी-रीति-कवियों की नायिका भी शंकालु दिखाई गई है, लेकिन धीरे-धीरे वह नायक से परच जाती है। कवियों ने ऐसी नायिका के बड़े मधुर चित्र प्रस्तुत किए हैं—

जाहि न चाह कहूँ पति की सु कछू पति सों पतियान लगी है।
त्यौं 'पदमाकर' आनन में रुचि कानन भौंह कमान लगी है॥
देत पिया न छुवै छतियाँ बतियान में तौ मुसिक्यान लगी है।
प्रीत मैं पान खवावन कौं पर जंक के पास लौं जान लगी है॥

—पद्माकर

जिसे पहले पति की चाह नहीं थी, वह अब पति को कुछ-कुछ पतियाने लगी है। इसलिए इस परिवर्तन के अनुसार ही उसके मुख पर कान्ति आ गई है, यद्यपि भौंह कमान तनी रहती है। अभी उरोज स्पर्श नहीं करने देती, परन्तु बातों में तो मुस्कराती है। इस प्रकार प्रियतम को पान खिलाने के लिए अब वह पर्यंक तक जाने लगी है। स्पष्ट है कि इस नायिका का स्वरूप उर्दू-माशूक़ से अलग है।

माशूक़ में निष्ठुरता के साथ अहंमन्यता तथा निरपराध प्रेमी के प्रति कोप-प्रदर्शन-प्रवृत्ति भी हैं। हिन्दी-रीति काव्य में ऐसी नायिका को अधमा कहा गया है—

पिय सों हित हू के किए करै मान जो बाल।
तासौं अधमा कहत हैं कवि 'मतिराम' रसाल॥

रति-हीन भाव को शृंगार रस के अन्तर्गत मानना नायिका-भेद में मूले कुठाराघातः वाली बात है। नायिका-भेद का आधार ही पारस्परिक रति भाव है। उसके अभाव में नायक-नायिका की कल्पना हो ही नहीं सकती। डा० राकेश गुप्त ने सर्वदैव कोपनशीला स्त्री को नायिका नहीं माना है—"But as it would be difficult to recognize a woman, who shows unabated anger to her lover for no fault of his, as a heroine." हिन्दी-रीति कवियों ने उसे अधमा कहा है। इस विवेचन से लक्षणकारों की तथा-कथित नायिका के प्रति अवमानना तथा उपेक्षा अभिव्यक्त होती है। हमारा अनुमान है कि उर्दू में इस प्रकार के माशूक़ का बोलबाला देख कर ही आचार्यों ने ऐसी स्त्री को भी नायिका-भेद में प्रविष्ट कर लिया,

लेकिन उसे माना अधमा। हिन्दी-रीति-कवि अधमा कह कर ही नहीं रुक गए, उन्होंने उसे 'पापिनी' शब्द तक से सम्बोधित किया है—

ह्यौं उरझाइ रिझाइबे कों रस राग कवित्त् न की धुनि छाई।
त्यों 'पद्माकर' साहस कै कबहूँ न बिवाद की बात सुनाई॥
सावन हू न कियो अपराध सु आपने हाथनि सेज बिछाई।
त्यों परि पाइ मनाई तऊ (वा) पापिनि कों कछू पीर न आई॥

लेकिन उर्दू-काव्य में अकारण क्रोधी माशूक़ की बड़ी प्रशंसा की गई है। आशिक़ उसके आगे बार-बार सर झुकाता है उसके पैर पड़ता है, फिर भी वह उसे दुतकारता है।

प्रकृत्या निष्ठुर माशूक़ के प्रति प्रेम-निवेदन 'इकतरफ़ा' प्रेम कहलाता है। हिन्दी के अनेक आलोचकों ने इस इकतरफ़ा प्रेम को 'घनानंद' आदि रीतिकालीन सत्कवियों तक की रचनाओं में न केवल खोज निकाला, अपितु यह घोषणा भी कर दी है कि उनकी प्रेम-चित्रण-पद्धति फ़ारसी और उर्दू की है। हम यहाँ बल देकर कहना चाहते हैं कि इन कवियों का प्रेम उस तरह का इकतरफा प्रेम नहीं है।

उर्दू-काव्य के आशिक़ का माशूक़ से संयोग कभी होता ही नहीं। आलोच्यकाल के ये हिन्दी-रीतिकवि संयोग-लाभ कर चुके थे। 'घनानंद' के विरहोद्गार इस बात के प्रमाण हैं कि उन्हें प्रेमिका के साथ रस-सागर में डूबने का निश्चित योग मिल चुका था—

तब तौ छवि पीवत जीवत हे, अब सोचन लोचन जात जरे।
हित-पोष कै तोष सु प्रान पले, बिललात महादुख-दोष-भरे॥
'घनानंद' मीत सुजान बिना सब ही सुख साज समाज टरे।
तब हार पहार से लागत हे अब आनि कें बीच पहार परे॥

उपर्युक्त कवित्त से सुस्पष्ट है कि 'घनानंद' का काव्य 'तब' और 'अब' का अन्तर स्पष्ट करने वाला प्रेम-काव्य हैं 'तब' में प्रेमी है और उसकी प्रिया है। 'अब' में प्रेमी के साथ प्रिया नहीं है, परन्तु प्रिया का सारा क्रिया-कलाप उसके साथ है। 'घनानंद' के अब में 'तब' सूक्ष्मरूप से विद्यमान और अर्थात् उनका 'अब' 'तब' पर आधारित है। उर्दू-कविता में 'तब' का अस्तित्व न होने से 'अब' विच्छिन्न, कृत्रिम तथा अप्राकृतिक सिद्ध होता है। 'घनानंद की यह विरह-व्यथा सुदूर स्थित चन्द्रमुखी की छवि-ज्योत्स्ना से प्रेरित प्रेम-समुद्र का व्याकुल उद्वेलम है, लेकिन उर्दू-कविता के आशिक़ के उद्गार अंधकार में छोड़े गए रंगीन गुब्बारे हैं, जो शून्य में जाकर समाप्त हो जाते हैं।

'घनानंद' द्वारा प्रयुक्त 'बिसासी' शब्द ही इस 'तब'-'अब' का अन्तर बताता है। विद्वानों ने 'बिसासी' शब्द की व्युत्पत्ति को 'वस्वसः' आदि फ़ारसी शब्दों में खोजने का अच्छा प्रयास किया है, परन्तु यह शब्द स्पष्टतः 'आशीविष' का व्यत्यय मालूम पड़ता है। सर्प को लाख दूध पिलाइए बनेगा विष हीं। 'घनानंद' ने प्रेयसी को प्रेमामृत का पान कराया पर बदले में

मिला विष। उर्दू-आशिक़ को माशूक़ ने कभी आश्वस्त किया ही नहीं, फिर विश्वासघात का सवाल कैसा ? उर्दू-काव्य का आशिक़, माशूक़ के प्रति सर्वथा शंकालु है—

है बसकि उनके हर इक इशारे में निशाँ और।
करते हैं मुहब्बत तो गुज़रता है गुमाँ और॥
यारब वो न समझे हैं न समझेंगे मिरी बात।
दे और दिल उनको जो न दे मुझको जबाँ और॥

—गालिब

'घनानंद' के काव्य में प्रेम की स्थिति दोनों ओर थी, बाद में प्रेयसी शरीर से उनके साथ नहीं आई, निष्ठुर हो गई तो सम प्रेम विषम हो गया। उर्दू-काव्य में प्रेम कभी सम था ही नहीं, इसलिए वह इकतरफ़ा है। अतएव 'घनानंद' के काव्य का प्रेम विषम है; इकतरफ़ा नहीं और वह विरह-वर्णन के अन्तर्गत आएगा।

हिन्दी-कवि 'बोधा' (जन्म १७४६ ई०) के जीवन में जो 'विरह वारीश' लहराया उसके दोनों किनारे प्रेयसी की दोनों भुजाएँ हैं। वहाँ आदि में भी संयोग है और बाद में भी। इसलिए वहाँ इकतरफ़ापन की हवा नहीं पहुँच सकती। और आलम (रचनाकाल सन् १६८३-१७०३) जब शेख से वियुक्त ही नहीं हुए तो उनकी कविता में उर्दू-काव्य का प्रेम-प्रभाव देखना ज़बरदस्त नेत्र-दोष है। 'ठाकुर' (सन् १७४६-१८२३) स्पष्ट घोषणा करते हैं **"पर बीर मिले बिछुरे की बिथा मिलिकै बिछुरै सोई जानतु है।"** अर्थात् वह मिल कर बिछुड़े हैं, जन्मजात बिछुड़े नहीं हैं। उन्होंने संयोगानंद उठाया है तब वियोगी बने हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि इन सभी कवियों का विरह-वर्णन साधार है, उर्दू-काव्य के वियोग-वर्णन की भाँति निराधार नहीं। यह सोचने की बात है कि जो अलमस्त प्रेमी कवि हिन्दी-काव्य-रीति की लकीर के ही पूरे फ़क़ीर नहीं बने, वे उर्दू की अप्रकृत प्रेम-कविता के रूढ़ि-पंक में जाकर क्यों लथपथ होने लगेंगे ?

उर्दू तथा हिन्दी की प्रेम-परम्परा में सब से बड़ा अन्तर यह है कि उर्दू के आशिक़-माशूक़ एकांत प्रेमी-प्रिय हैं, जब कि हिन्दी के नायक-नायिका समाज-स्थित प्रेमी-प्रेमिका हैं। हिन्दी नायिका-भेद की आधारशिला समाज है। प्रेमी के साथ सामाजिक सम्बन्ध की दृष्टि से ही प्रेमिका को स्वकीया, परकीया एवं सामान्या कह कर पुकारा गया है। स्वकीया वह है जिसका नायक के साथ विवाह हुआ है और परकीया उसे कहते हैं जिसका विवाह एक व्यक्ति से हुआ है, परन्तु वह प्रेम किसी दूसरे पुरुष से करती है।

इन दोनों प्रकारों में बड़े मार्के की बात यह है कि स्वकीयात्व का अर्थ पति-पत्नी संबंध मात्र नहीं है। यदि ऐसा हो तब तो जिसे परकीया कहा जाता है, वह भी किसी की पत्नी होने से स्वकीया ही हो जाएगी। पति-पत्नी होने पर भी यदि उनमें प्रेम नहीं है तो वे नायक-नायिका नहीं हैं। इसलिए प्रेम की स्थिति नायक-नायिका होने की पहली अनिवार्यता है।

इस कसौटी के आधार पर 'सामान्या' नामक भेद अनुचित प्रतीत होता है, क्योंकि सामान्या वह है जो अनेक व्यक्तियों से सम्बन्ध रक्खे। वह सम्बन्ध रखती है, प्रेम-सम्बन्ध नहीं रखती। प्रेम तो वस्तुतः एक ही व्यक्ति से हो सकता है। एक से अधिक के प्रति प्रेम नहीं, प्रेम का प्रदर्शन होता है। ऐसी दशा में सामान्या वर्ग बनता नहीं। सामान्या का प्रेम धननिष्ठ है, व्यक्तिनिष्ठ नहीं। अतः उसे नायिका का पद नहीं मिलना चाहिए। लेकिन 'सामान्या' का विवेचन करते समय आलोच्यकालीन कवियों ने सामान्य नारी के मनोविज्ञान को नहीं भुलाया, क्योंकि अन्ततः सामान्या भी है तो नारी ही।

इस मनोविज्ञान के अनुसार सामान्या के स्वतंत्रता, जनन्यधीना, नियमिता एवं क्लृप्तानुरागा भेद किए गए हैं। इनमें नियमिता तक तो वह गणिका कही जाएगी, क्योंकि उसका लक्ष्य धन है—

बसु दै बहु जो नियम करि काहू राखी होइ।
ता गनिका को नियमिता कहि बरनै सब कोइ।।

—'शृंगार मंजरी'

परन्तु क्लृप्तानुरागा का लक्ष्य धन नहीं, व्यक्ति है—

जाको सनेह है एक ठौर।
जो यों गनिका कुल सीस मौर।
क्लृप्तानुराग सोई बखान।
सिगरे सज्जन मन लेउ मान।।

—'शृंगार मंजरी'

ऐसी नायिका 'गणिका कुल सिर मौर' है। यदि वह अक्षतयोनि है और किसी एक से ही सम्बद्ध होकर रहती है तो कार्य एवं शीलादि की दृष्टि से वह स्वकीया ही है। लेकिन गणिका-कुल में जन्म लेने से सद्‌गुणवती होने के बावजूद समाज उसे गणिका ही कहेगा और यह एहसास उसके तथा उसके प्रेमी के मन में सदैव बना रहेगा। इस हीन ग्रन्थि के कारण दोनों का प्रेमानुभव अक्षुब्ध-स्तरीय नहीं होगा। अतः न केवल सामाजिक दृष्टि से, अपितु प्रेम की स्थिति के हिसाब से भी वह नायिका सामान्या है। इस हेयता से सम्बन्धित होने के कारण हिन्दी-आचार्यों ने उसे नायिका मान कर भी उसके उदाहरणों के प्रति रुचि नहीं दिखलाई।

विवेच्यकालीन हिन्दी-काव्य में हमें परकीया की एक विचित्र स्थिति दिखाई पड़ती है। इन कवियों ने सामाजिक सम्बन्ध ध्यान में रख कर तो नायिका को परकीया कहा, परन्तु उसका प्रेम स्वकीया का रक्खा। यह कहा जा चुका है कि रीतिकालीन नायक-नायिका के बीच परस्पर प्रेम की स्थिति पहली शर्त है। प्रेम का फल है सुखानुभूति। इस निकष पर परकीया का मनोविज्ञान देखने से प्रतीत होता है कि उसमें सुखानुभूति, व्याघातमय होने से प्रेमोल्लासपूर्ण नहीं है। इस तथ्य को नायिका-भेद के अन्तर्गत समझना चाहिए।

परकीया के भीतर अनूढ़ा (कन्या) को भी माना गया है। प्रेम की दृष्टि से अनूढ़ा प्रेमी के अतिरिक्त और किसी की नहीं होती, अतः उसे परकीया कैसे कहा जा सकता है? लेकिन आचार्यों के अनुसार "जब तक अनूढ़ा है तब तक वह परकीया ही रहेगी और जब प्रेमी से उसका विवाह हो जाएगा तब वह स्वकीया होगी—स्थिति-भेद से स्वरूप-भेद होगा।"[1] लेकिन प्रश्न तो यह है कि विवाह न होने से जब वह किसी की नहीं है, तब वहाँ परकीया विशेषण कैसे उपयुक्त होगा?

वस्तुतः अनूढ़ा को परकीया मानने का कारण सामाजिक परिवेशान्तर्गत दोनों के मनोविज्ञान की समता है। यद्यपि कन्या के मन में नायक की पति-रूप-प्राप्ति का विकल्प भी रहता है जो परकीया में नहीं होता, फिर भी प्रेम करते समय अपने अपराध के प्रति जितनी सज्ञान परकीया होती है उतनी ही अनूढ़ा भी। सामाजिक दृष्टि से दोनों ही अपराधी हैं। नायक से मिलते समय परकीया को जिस प्रकार पति-परिवार का भय रहता है, अनूढ़ा को भी उसी प्रकार अपने परिवार का।

सामाजिक मर्यादा अतिक्रमण के कारण परकीया-प्रेम अनुचित है। कवियों ने परकीया भेदोल्लेख परम्परा-पालनार्थ किया अवश्य, किन्तु मुक्त भाव से उसका प्रतिपादन वे न कर सके—

छपे-छपे पर पुरुष सों करै जो रस बस प्रेम।
परकीया बरनन करत भैजुत करिके नेम॥

—रघुनाथ

'भययुत' शब्द कवि की मनोवृत्ति का प्रकाशक है। परकीया-प्रेम अविहित होने के कारण उपेक्षणीय है, स्वकीया-प्रेम विहित होने के कारण निर्वचनीय है। इसी सामाजिक दृष्टि के कारण कवि 'देव' ने स्वकीया, परकीया तथा सामान्या के वर्णनों को अभिधा, लक्षणा और व्यंजना कह कर इस बात की पुष्टि की है—

अभिधा उत्तम काव्य है मध्य लक्षना लीन।
अधम व्यंजना रस विरस उलटी कहत नवीन॥

फलितार्थ यह कि "स्वकीया का वर्णन काव्य में प्रत्यक्ष कहना चाहिए, परकीया का वर्णन लक्षण के रूप में लाना चाहिए और सामान्या का संकेत रूप में।[2]"

समाज के भय के कारण प्राप्त क्षणों का जितनी उत्कंठा से परकीया उपभोग करना चाहती है, उतनी ही आतुरता से अनूढा भी। अतएव मनोविज्ञान में दोनों समान हैं। इस दृष्टि से अनूढा को भी परकीया कहा जा सकता है।

---

१. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

२. वही।

परकीया का प्रेम अत्युत्कट अवश्य होता है, परन्तु संभोग अथवा चुंबनालिंगन में न तो वह निश्चिन्त रह पाती है और न नायक ही। इसलिए उसे आनंद का वैसा अनुभव नहीं होता जैसा स्वकीया को। अतएव आनंद की मात्रा देखते हुए भी परकीया का प्रेम, निर्बाध न होने से मध्यम कोटि का है। कहने का आशय यह कि न केवल सामाजिक दृष्टि से, प्रत्युत् प्रेम-सुख की अतिशयिता के कारण भी स्वकीया-प्रेम परकीया-प्रेम से उत्कृष्ट है।

परकीया नायिका तथा उपपति को अव्याहत सुखानुभूति तभी हो सकती है जब उनकी पारस्परिक प्रेमनिष्ठा सामाजिक मर्यादा की चिन्ता न करे। परकीया को स्वकीया के समान निश्चिन्तता प्राप्ति तभी होगी जब आलम्बन ऐसा हो जिसके आगे लोक-मर्यादा नगण्य मानी जाय। कृष्ण के प्रति गोपियों का प्रेम इसी तरह का था। आचार्य केशवदास ने परकीया को परमात्मा की प्रेमिका ही बताया है—

कोऊ जानै नहीं दृग बौरि कबै
कित ह्वै हरि आनन छ्वै निकसे।

० ० ०

सखि काल्हि गई हुती गोकुल हौं
सब ही मिलि द्वैज को चंद करी॥

स्वकीया पतिव्रता होती है, उसके लिए पति ही परमात्मा है। परकीया परमात्मा की प्रेमिका होती है, उसके लिए परमात्मा ही पति है। इस प्रकार दोनों की स्थिति एक-सी है। हिन्दी रीति-कविता में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि नंदकिशोर के अतिरिक्त अन्य पुरुष को चौथ का चंदा समझना चाहिए—

पति ते न करै मन बाहिर औ जिमि जाहिर सूंम करै न धनै।
गुन सील सुभाव सनेह पतिव्रत वारिधि को भयो मीन मनै॥
कवि 'तोष' कोऊ न कबौं घर ते गुनि द्वार की देहरी ना गमनै।
निज नैननि सेजति नंदकिसोरहि औरहि चौथि को चंद गनै॥

और यदि परकीया है तो वह गोपी-स्वरूपा है, जिसको नन्दकिशोर के अतिरिक्त दूसरी गति नहीं है।

इस तथ्य से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी-रीति-काव्य का मूलस्वर स्वकीया-प्रेम-वर्णन है। हमारे इस कथन का समर्थन रीति-ग्रंथों में किए गए परकीया के भेदों से भी होता है। खंडिता तथा अन्य संभोगदुःखिता को परकीया का भेद कहा गया है। लेकिन यह जानते हुए भी कि नायक एक दूसरी स्त्री का प्रेमी है और उससे संभोग कर के आया है, क्या कोई परकीया उससे प्रेम करती रहेगी? परन्तु रीतिकालीन हिन्दी-परकीया का प्रेम दृढ़ है। अतः परकीया होने पर भी निष्ठा से वह स्वकीया है, क्योंकि स्वकीया पति के इन विपरीत

आचरणों को जान कर भी उसके प्रति वफ़ादार रहती है। इसीलिए हिन्दी-रीति कविता की परकीया का मनोविज्ञान परकीया का न होकर स्वकीया का मनोविज्ञान है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह रूपतः परकीया भले ही प्रतीत हो, स्वरूपतः तो शुद्ध स्वकीया ही सिद्ध होती है। अतएव, रीतिकालीन हिन्दी नायक-नायिका पर उर्दू का प्रभाव नहीं है। इसके विपरीत हिन्दी नायिका-भेद ने उर्दू पर अत्यन्त गहरा रंग चढ़ाया है।

—१७८, एलनगंज,
इलाहाबाद–२

⊙

कामायनी की मनोवैज्ञानिकता

श्री दिनेशचन्द्र मिश्र

प्रसाद के 'कामायनी' महाकाव्य में घटनाओं की प्राचीनता एवं ऐतिहासिक अतिरंजना के साथ-साथ रूपकतत्व भी सन्निहित है। यही कारण है कि इसके पात्र न केवल ऐतिहासिक हैं, प्रत्युत् वे मानव वृत्तियों के भी प्रतीक हैं। स्पष्ट है कि कवि ने इतिहास के संदर्भ में मनोवृत्तियों की अनुपम झलक भी प्रस्तुत किया है। रूपक का प्रयोग साहित्य-शास्त्र में कई अर्थों में किया जाता है। 'कामायनी' के प्रसंग में इसके दो अर्थ स्वीकृत हैं। यही कारण है कि इसमें आद्योपांत सामान्य अर्थ के साथ सांकेतिक अर्थ भी विद्यमान है। प्रसाद ने इसके सम्बन्ध में 'कामायनी' के आमुख में लिखा है—"यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्‌भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करें, तो मुझे आपत्ति नहीं।" मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष—हृदय और मस्तिष्क का संबंध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।

महाकाव्यों में सर्गों का नामकरण प्रायः पात्र, घटना या स्थान के नाम के आधार पर किया जाता है, किंतु 'कामायनी' में सर्गों के नामकरण मनोवृत्तियों पर आधारित हैं। इसीलिए यह महाकाव्य मानव जीवन की कहानी के साथ-साथ मनोभावों का क्रमशः विकास भी प्रस्तुत करता है। ये भाव जिस क्रम से मानव-मन में उत्पन्न होते हैं, तदनुरूप 'कामायनी' में निरूपित किए गए हैं। इस प्रकार पात्रों एवं सर्गों—दोनों का आधार मनोवैज्ञानिक है। 'कामायनी' की कथा पुरुष एवं नारी दोनों के जीवन से संबंधित है, इसीलिए दोनों प्रकार के पात्र कल्पित किए गये हैं। इनके पारस्परिक योगदान से मानवता का एक सुव्यवस्थित चित्रांकन प्रस्तुत किया गया है। संसार दुःखमय है, सामान्यतया भारतीय विचारणा इसे स्वीकार करती है। मनुष्य का जैसे ही जन्म लेने के बाद ज्ञान विकसित होता है, चिंता रूपी नागिन उसे आकर आमरण

डसती रहती है। 'चिंता' विश्व का प्रथम मनोमय व्यापार माना जाता है। यह मानव जीवन के अभावों का प्रतिफलन है।

'कामायनी' का प्रथम सर्ग 'चिन्ता' है जिसमें मनु अपनी सम्पूर्ण देव-सृष्टि के विध्वंस पर संक्षुब्ध हैं। प्रसाद जी ने इस चिंता रूपी अभिशाप को मधुमय स्वीकार किया है। क्योंकि यदि मनुष्य में उसका प्रवेश न हो तो उसका जीवन गतिहीन हो जायगा, और यदि केवल चिंता ही आद्यन्त बनी रहे तो मनुष्य इसके मध्य घुट-घुट कर मर जायगा। इसीलिए वह आशा ले कर जीता है। यह एक ऐसा अवलम्ब है, जो मानव जीवन को सदा गतिशील बनाये रखता है। आशा मानव जीवन का वह श्वास है, जिसके अभाव में सब कुछ व्यर्थ है। इसकी महत्ता एवं मधुरता का गायन 'कामायनी' के आशा सर्ग में किया गया है।

जीवन को निरंतर गतिशील बनाए रखना, मानव का चरमोद्देश्य है। वह क्रमशः विकास की ओर उन्मुख होता है। सर्वप्रथम वह बौद्धिक विकास करता है, किंतु इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि उसका हृदय भी सुव्यवस्थित रूप से विकसित हो। यहीं से श्रद्धा का जन्म होता है। हृदय की उदात्त वृत्तियों का मूल यही दया, माया, ममता, स्नेह आदि है। श्रद्धा के अभाव में मानव जीवन केवल विश्रृंखलता मात्र है। यही हमारे जीवन की मातृ, धातृ तथा विधातृ मानी जा सकती है। यह हमारे जीवन का वह मूलाधार है, जिसके बिना हम अशक्त एवं असहाय सिद्ध होंगे। हमारी भक्ति, अंधी, हमारा ज्ञान पंगु, हमारा मन व्यक्तिचारी एवं चित्तवृत्तियाँ पतन एवं विनाश की ओर ढकेलने वाली सिद्ध होंगी। इस प्रकार 'कामायनी' में श्रद्धा प्रतीक के रूप में हृदय है, किंतु उसमें वे समस्त मानवीय गुण विद्यमान हैं जिससे मानव सचमुच अपने नाम कीं सार्थकता निभा सकता है। तभी पतन के पंक से निकल कर हम उत्कर्ष के चरमबिंदु पर पहुँच सकते हैं। यह केवल मानवीय सुखों का मूल ही नहीं, वरन् सेविका से लेकर गुरु तक है। 'कामायनी' में 'श्रद्धा' के विविध पक्षों का उद्घाटन हुआ है। यहाँ श्रद्धा के दो रूप हैं--एक तो वह हृदय वृत्ति के रूप में आती है और दूसरे, उसका नारी के रूप में पृथक् अस्तित्व है। इस रूप में वह काम एवं वासना आदि वृत्तियों को लिए हुए है। मनःस्थिति के रूप में तो वह एक पवित्र अनुभूति है ही, साथ ही वह नारी सौंदर्य एवं अनन्त गुणों की राशि भी रही है। नारी के सम्पर्क में आते ही पुरुष के मन में काम और वासना की सृष्टि होती है।

मनु के मन में ज्यों ही काम तथा वासना की अनुभूतियाँ जन्म लेती हैं, श्रद्धा निष्क्रिय रहते हुए लज्जा का अनुभव करती है। यह शक्ति नारी की सहज मनोदशा है। काम का अर्थ है, 'इष्टविषयाभिलाषः' अर्थात् इच्छित् विषयोपलब्धि की इच्छा। वासना का अभिप्राय है विषय में अभिनिवेश। इन्हीं के आधार पर 'कामायनी' में काम और वासना सर्गों की कल्पना कीं गयी है।

'कामायनी' महाकाव्य का छठाँ सर्ग है लज्जा, जिसका अर्थ है, 'स्वच्छंद क्रिया-संकोच' वासना एवं काम इन्द्रिय भोग की इच्छा को विकसित करते हैं, जिसमें नारी संकोच का अनुभव करती है। लज्जा ही नारी का आभूषण है। लज्जा का परिचय प्रसाद जी ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ, मैं शालीनता सिखाती हूँ।
मतवाली सुंदरता पग में, नूपुर-सी लिपट मनाती हूँ।।

काम-वासना एवं ईर्ष्या से संतप्त मानव का अहंभाव इतना प्रबल हो जाता है कि उसकी परिणति संघर्ष में ही संभव है। बुद्धि का अतिरेक इसी ओर ले जाता है, फलतः मनुष्य के लिए अशांति के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं लगता। अंत में व्यक्ति अपने जीवन-संघर्ष में हार मान लेता है। जब बुद्धि का सम्बल मिलने पर भी मनुष्य आनन्द के स्थान पर विवाद, बेचैनी विकलता, विपन्नता ही प्राप्त करता है, तो जीवन से निराश होकर वह भागना चाहता है। यहीं निर्वेद उत्पन्न होता है। सांसारिक निवृत्ति के कारण उनकी भावनाएँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। मनुष्य की अन्तर्मुखी अनुभूतियाँ उसे ग्लानि के लिए विवश करती हैं। इन्हीं के आधार पर 'कामायनी' में अंतिम सर्ग क्रमशः दर्शन, रहस्य, आनन्द प्रस्तुत किए गए हैं।

इस प्रकार 'कामायनी' महाकाव्य के सभी सर्गों के शीर्षक न केवल मनोभावों के आधार पर प्रस्तुत किए गए हैं, प्रत्युत् उसमें सभी मनोवृत्तियों का अद्भुत समावेश भी है। उदाहरण के लिए चिंता सर्ग में विस्मृति, वैवर्ण्य, जड़ता आदि की कल्पना की गयी है। 'आशा' सर्ग में प्रसन्नता, विश्वास, रहस्य, प्रेम, सहानुभूति, वेदना आदि के चित्र भी प्रस्तुत किए गए हैं। इसी प्रकार श्रद्धा सर्ग में उससे सम्बंधित अनेक गुणों एवं अनुभूतियों की कल्पना देखते ही बनती है। उसमें दया, माया, ममता, माधुर्य, उत्साह, सान्त्वना, आत्मसमर्पण आदि के व्यापक गुण सन्निहित हैं।

उपर्युक्त उल्लेख केवल व्यक्तिगत मनस्तत्त्वों का ही विवरण नहीं प्रस्तुत करता, प्रत्युत् सम्पूर्ण मानव-जगत् की मनोवृत्तियों की सुन्दर झांकी भी प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ, सारस्वत प्रदेश की कथा से यह सिद्ध होता है कि जब कोई समाज का संचालक स्वतः अपने बताए हुए सिद्धांतों का हनन करता है, तो वह अनेकानेक विनाशकारिणी परिस्थितियों का शिकार हो जाता है। जैसा कि मनु के साथ देखते हैं। प्रसाद जी ने अन्तर के व्यापार का चित्र प्रस्तुत कर बाह्य-जगत् की समस्याओं को भी सदा के लिए सुलझा देने का प्रयास किया है। पात्रों की कल्पना एवं साधना तथा उनके चारित्रिक विकास की विशेषताएँ मानवता की अनुपम पूंजी हैं।

सम्पूर्ण जगत् में मनु, श्रद्धा एवं इड़ा के प्रतिरूप कम नहीं हैं। आज भी मनु के बौद्धिक विकास का पतन हो रहा है। मनु जैसे दुष्ट जनों के यहाँ आज भी श्रद्धा जैसी पत्नियाँ अपनी दया, माया, ममता, मधुरिमा एवं अगाध विश्वास की निधि लिए हुए, उनका विस्तार कर रही हैं। मनु जैसे मनचले एवं स्वच्छंद प्रवृत्ति वाले मनुष्यों के शासन में आज भी विप्लव एवं संघर्ष चल रहा है।

मन अपनी इच्छाओं की पूर्ति बौद्धिक धरातल पर करता है, अर्थात् इच्छानुसार बुद्धि तथा भावों में परिवर्तन संभव है। किंतु यह आवश्यक नहीं कि बौद्धिक शक्ति के आधार पर लिया गया निर्णय हमें उचित दिशा की ओर ले जाय। प्रायः इस पथ पर चलते हुए भ्रष्ट होना ही सरल है। इसीलिए कर्म, इच्छा, बुद्धि में सामरस्य आवश्यक है, क्योंकि इच्छा दृष्टिहीन है, बुद्धि पंगु तथा कर्म विना हृदय-तत्त्व के समर्थन के अहं तथा अभिमान का उत्पादक है।

'कामायनी' में मनःस्थितियों का रूपविधान अपने ढंग का मौलिक ज्ञात होता है, श्रद्धा मन की समस्त उलझनों को सुलझाती चलती है। आनंद अथवा कैवल्य, बुद्धि से प्राप्य नहीं, उसमें श्रद्धा आवश्यक है। श्रद्धा और इड़ा दोनों मन की सहचरी हैं, किंतु दोनों के गंतव्य पृथक् हैं। एक आत्मोन्मुखी है, जो आनंद धाम तक पहुँचना चाहती है, दूसरी अनात्मोन्मुखी है, जो जीवन में संघर्ष एवं विप्लव उपस्थित करने वाली है। मन श्रद्धा के अभाव में बुद्धि के सहारे जब तक मनमानी करता रहता है, तब तक उसमें नास्तिक भाव बने रहते हैं, और तब आनन्दोपलब्धि कहाँ? ''अज्ञश्च अश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति'' अर्थात् श्रद्धारहित पुरुष में कभी विश्वास नहीं आ सकता। ज्ञानोपलब्धि के लिए भी श्रद्धा आवश्यक है—

'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।' —गीता

मनु जहाँ तक मन के द्योतक हैं, वहाँ उनमें दुर्निग्रही एवं चंचल प्रवृत्तियाँ घर किए हुए हैं और वे स्वार्थ-लिप्सा, कामोन्मत्तता आदि दुष्प्रवृत्तियों में लीन हैं। श्रद्धा के पावन आचरण एवं साधना ने उनके जीवन में एक नया मोड़ उपस्थित किया है। इड़ा जहाँ तक बुद्धि का प्रतीक है, वह उन्हें अपनी माया जाल में बाँधे हुए है। मनु उसे अधिकृत करना चाहते हैं, पर विफल हो जाते हैं। अंत में विप्लव एवं संघर्ष ही हाथ लगता है। 'श्रद्धा' को अपरिहार्य बनाने के लिए उसे सेवा, दया, माया, ममता, करुणा, उदारता, आत्मसमर्पण, त्याग, क्षमा आदि की साकार मूर्ति बताया गया है। इस प्रकार निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'कामायनी' में प्रत्येक सर्ग अर्थात् चिंता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य एवं आनन्द न केवल मनःस्थितियों के अनुरूप कल्पित किए गए हैं, प्रत्युत् इसमें निरूपित प्रमुख पात्र अर्थात् मनु, श्रद्धा एवं इड़ा भी मनोभावों के प्रतिनिधि बन कर उपस्थित हुए हैं। सम्पूर्ण महाकाव्य में जिस उत्कृष्ट धरातल पर ये मानव जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, वह अखिल मानव जाति के लिए अनमोल निधि के रूप में प्रतिष्ठित है। इसका प्रतीकात्मक अनौचित्य भूल कर भी नहीं दृष्टिगत होता। रूपकत्व के विचार से इसकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि पात्रों के नाम भी प्रतीकात्मक अर्थ को समेटे हुए हैं।

—ग्राम-ठरा, पो० उग्रसेनपुर,
इलाहाबाद

⊙

पत्रकारिता के नये आयाम

शिवकुमार दुबे

समाचार और समाचारपत्रों से आज का आधुनिक जीवन आक्रांत-सा होता जा रहा है। वास्तव में ये हमारे प्रबोधन के अनिवार्य अंग बनते जा रहे हैं। हम सिनेमा देखने जाते हैं तो पलटते हैं समाचार पत्र, देश-विदेश की घटनाओं के बारे में सोचते-विचारते हैं तो हमारी राय अखबारी ही होती है। समाचारपत्र हमारे जीवन के अभिन्न अंग बन गए हैं।

दिन-दिन बदलते इस परिवेश में मानव आकांक्षाओं, भावनाओं का निरूपण कर, उन्हें वाणी दे पाना काफी कुछ कठिन काम है। इसीलिए आज पत्रकारिता बहु आयामी हो रही है, पत्रकार रोज़ सैकड़ों बार कसौटी पर अपने को रख रहे हैं। ऐसे चर्चित जीवन का आकर्षण बहुतों को हो सकता है किन्तु उसे जी पाने के क्षमता और अभिलाषा कितनी देर तक, कौन सँजो पाता है।

पत्रकारिता कल्पनाशील, तत्त्वान्वेशी, बुद्धिजीवियों का कार्य है जो संतुलित लेखन, समाचार संकलन, उनकी प्राथमिकता, प्रस्तुति और शीर्षक निर्णय करने में पटु होते हैं। वे घटनाओं का मानवीय संस्करण अपने पाठकों के समक्ष रखते हैं। 'काज़ी जी दुर्बल क्यों? शहर के अन्देशे से।' पत्रकार महोदय को सभी का दुःख-दर्द समेटना है। उन्हें उन सब चीज़ों से लगाव है जिनमें उनके पाठक रुचि लेते हैं। उन्हें उन सारी बातों की चिन्ता है जिनसे उनके पाठक चिन्तित रहते हैं।

आज तक यह नहीं सुना गया कि कोई अखबार खबरों के अभाव में प्रकाशित न हुआ हो। पत्रकार की बुद्धि का चमत्कार और उसकी कल्पनाशीलता खबरों का टोटा नहीं पड़ने देती। यदि खबरें नहीं हैं तो वे खबरों के अन्दर की खबरें निकाल लेंगे। आप दैनिक पत्रों की पंक्तियाँ पढ़ कर अर्थ निकालते हैं। ये पंक्तियों के बीच की बात ढूँढ़ निकालते हैं।

पत्रकारिता, संवेदनशीलता, सर्जनात्मकता और चेतना सम्पन्नता की परिणति है। समाचार वस्तुधर्मा होते हैं। किसी भी पत्रकार के लिए, जो अपने नाम के अनुरूप कार्य करता है, तथ्य पवित्र होते हैं। तथ्यों को तोड़ना-मरोड़ना पत्रकार का धर्म नहीं। जो ऐसा करते हैं आप उन्हें पत्रकार न कहें तो अच्छा। तथ्यों को परिप्रेक्ष्य से हटा कर उन्हें तोड़-मरोड़ कर पाठक के सामने रखना शुद्ध ब्लैकमेलिंग कहा जा सकता है।

तो पत्रकार के लिए तथ्य पवित्र होते हैं किन्तु उनकी समीक्षा में वह स्वतंत्र है। यह किसी भी दैनिक पत्र की अपनी नीति, संबंध और पाठकों की रुचि पर निर्भर करती है। किसी भी दैनिक पत्र के अग्रलेखों से उसका पाठक सम्पादक की राय जानना चाहता है। अग्रलेखों में व्यक्त विचार को वह स्वतंत्र चिन्तन की अभिव्यक्ति मानता है और इसी पर पत्र की प्रतिष्ठा निर्भर करती है।

आप शायद जानते हों पत्रकारिता के दो अंग हैं—समाचार संकलन, जो संवाददाता करते हैं, और समाचार की प्राथमिकता, प्रस्तुति और शीर्षक के निर्णय का कार्य जो उप-सम्पादक गण करते हैं। अग्रलेखों में समाचार की समीक्षा का कार्य संपादक करता है।

आकजल विभिन्न विशिष्ट क्षेत्रों जैसे खेल कूद, विज्ञान, खेती बारी, वाणिज्य के अलग-अलग संवाददाता होते हैं। आपने ऐसे भी पत्र देखे होंगे जिनके समाचार संकलन, संपादन और प्रकाशन का कार्य केवल एक व्यक्ति करता है जो उसका स्वत्त्वाधिकारी भी होता है। नगरों में इन पत्रों की बहुतायत है। क्षमा कीजिएगा यहाँ मैं इन पत्रों की बात नहीं कर रहा हूँ।

दैनिक पत्रों के संवाददाता, आप सब के बीच में टहलते रहते हैं, शहर नगर के मुख्य स्थानों, कॉफी हाउसों, होटलों, सभाओं, गोष्ठियों, कवि सम्मेलनों, हड़ताली छात्रों, प्रदर्शनों

और विभिन्न राजनैतिक दलों के बीच आप इनको उपस्थित पाएँगे। इनके पास एक कलम और कागज दिखेगा। बात-बात पर और बिना बात पर भी ये ठहाका लगाएँगे और भीड़ को अपने परिचय, प्रतिष्ठा तथा व्यवहार के अनुरूप अपनी ओर आकर्षित करेंगे। ये जनभावनाओं, आकांक्षाओं, कठिनाइयों, अभावों और अन्तर्विरोधों को पहचानने का दावा करते हैं। कहीं दंगा हो गया, सड़क दुर्घटना हो गयी, गोली चल गयी, रेल पटरियों से उतर गई, पत्रकार महोदय उपस्थित हैं। दूसरे दिन सुर्खियों में खबरें पाठक के सामने हैं।

एक अच्छा पत्रकार जनता के सुख-दुःख का साथी है। जनता के प्रति हो रहे अन्याय और अत्याचार को वह वाणी देता है। वह शासन के सूझ-बूझ की तारीफ़ करता है साथ ही शासन की कमियों और अदूरदर्शिता के कारण उत्पन्न कठिनाइयों पर उँगली उठाता है। उसे इस बात का भी ध्यान है कि जनता को विभिन्न कठिनाइयाँ हैं तथा इसका भी कि शासन की भी सीमाएँ हैं। वह एकतरफा बात नहीं करता। सिक्के के दोनों पहलुओं को सामने रखता है, फिर उसकी समीक्षा करता है, उस पर अपना मत व्यक्त करता है।

बाजारों की भीड़ में वह खो जाता है। हड़तालियों के बीच वह डंडा भी खा लेता है। पुलिस के डंडे के बीच भी वह खड़ा है। उसमें हिम्मत भी है और सहनशीलता भी। रास्ता बंद है, बम फटा है, या गोलियाँ चल रही हैं। पत्रकार उसमें भी घुसना चाहता है। पुलिसजन उसे डाँटते हैं, रास्ता रोकते हैं उनसे भी वह निर्वाह करता है।

शान्त समुद्र के अन्दर लहरें चलती हैं। इसी ज्ञान के सहारे ऊपर से आकर्षक व्यवस्था की सतह के उपद्रवों को पत्रकार की पैनी दृष्टि पकड़ लेती है। उसे समाज के प्रहरी की भाँति कार्य करना है, राज्य और देश के हित में कार्य करना है। उसे उन सारी बातों की जानकारी रखनी है जो समाज की शान्ति, सुरक्षा और व्यवस्था के लिए खतरा है और उनसे समाज के कर्णधारों और शासन को आगाह करना है।

एक पत्रकार का काम लिखना और लिखते रहना है। किन्तु ध्यान रहे समय बिताने के लिए नहीं। प्रबुद्ध चेतना, आत्मसंयम, स्वतंत्र चिंतन, सुलझे विचार और तत्त्वों के अन्वेषण की भूख पत्रकार की अपरिहार्य कार्य सामग्री है। इन्हीं के सहारे वह संदर्भों की जानकारी रखता है। खबरों के पीछे किसी खबर को ढूँढ़ निकालता है। शासन उसकी कार्यशीलता से सदा प्रसन्न नहीं रहता। किन्तु उसे इसका क्षोभ नहीं रहता। संवादों की प्रामाणिकता के विषय में सन्तुष्ट हो जाने के बाद उसे किसी भी ताकत का भय नहीं रहता। वह तथ्यों का उद्घाटन करेगा भले ही शासन उससे क्षुब्ध हो।

एक पत्रकार के लिए यह आवश्यक है कि वह विभिन्न घटना संदर्भों की पूरी जानकारी रखे। क्योंकि तथ्य परिप्रेक्ष्यों में ही समाचार बनते हैं। परिप्रेक्ष्य चेतना से हीन पत्रकार सफल पत्रकारिता नहीं कर सकता। सूखा हो तो वह चिंतित है, बाढ़ तबाही लेकर आई तो वह चिंतित है, दंगा-फसाद हुआ तो वह चिंतित है। उसे उन सब तत्त्वों की चिंता है जो जन जीवन को त्रस्त करते हैं। उसे चिंता है जनता की, समाज की, देश की। कोई सुने या न सुने वह अपना काम करेगा और करता रहेगा।

एक लोकप्रिय दैनिक पत्र उत्पादन है उन चेतना सम्पन्न जागरूक बुद्धिजीवियों का जो संतुलित लेखन, संवाद संकलन, संवादों की प्राथमिकता, उनकी प्रस्तुति तथा उनके शीर्षक देने की कला में पटु हैं। समाचारों की प्रामाणिकता, स्वतंत्र चिन्तनपूर्ण निर्भीक अग्रलेख और जनहिताय भावनाओं का समर्थन दैनिक पत्रों की लोकप्रियता और ग्राह्यता बढ़ाते हैं।

स्वतंत्रता के पूर्व पत्रकारिता जहाँ निर्भीकता का आग्रह करती थी वहाँ आज की पत्रकारिता मात्र निर्भीकता नहीं बल्कि समृद्ध जनमानस चेतना का भी आग्रह करती है। आज देश स्वतंत्र है। प्रदेशों और देश का शासन जनता के चुने प्रतिनिधि करते हैं। आज मात्र आलोचना नहीं बल्कि सर्जनात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। आलोचना सुझावपूर्ण होगी और दृष्टिकोण सर्जनात्मक होगा तभी आज का दैनिक पत्र अपनी प्रतिष्ठा पा सकता है। ऐसी स्थिति में आज की पत्र कारिता विशेष कठिन हो गयी है।

किसी भी दैनिक पत्र की शक्ति उसके पाठकों की गुप्त शक्ति होती है। उसके समाचार, विचार और सुझाव पाठकों को प्रभावित करते हैं। पत्रकार को एक राजनायक की तरह जन मन:स्थिति की सही और समुचित जानकारी रखनी होती है। इसके लिए उसे खुली आँखों और पूर्वाग्रहों से मुक्त चेतना से समय पर दृष्टि रखनी होती है। एक वैद्य की भाँति पत्रकार को घटनाओं की नाड़ी पकड़नी होती है। उसे समय का स्वर प्रतिध्वनित करना होता है। किसी भी समस्या पर अपने विचार व्यक्त करने के पूर्व उसे परस्परविरोधी विचारों पर ध्यान देना होता है। उसे अपने प्रत्येक वाक्य को समर्थन-विरोध चिन्तन प्रणाली से तौलना पड़ता है। जो मन में आया लिख दिया—परिणाम जो भी हो, पत्रकार का धर्म नहीं है। उसे अपने पाठकों के प्रति प्रतिबद्ध रहना है। जहाँ यह आवश्यक है कि वह सत्य का उद्घाटन करे वहाँ वह बाध्य नहीं है कि पूर्ण सत्य को सामने रखे। वह अपने सम्पूर्ण ज्ञान को सभी के गले नहीं उतार सकता। ये पत्रकार के आत्मसंयम की सीमाएँ हैं।

आज प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रश्नों का उत्तर दैनिक पत्र से माँगता है। इस जन प्रवृत्ति से पत्रकारिता को सावधान रहना है। कोई भी दैनिक पत्र उन सारी समस्याओं का जिनसे मानवता पीड़ित है हल नहीं दे सकता। वह दैनिक पत्र जो सभी को प्रसन्न रख सके उसका आविष्कार अभी नहीं हुआ है। यदि इस प्रकार का कोई पत्र पैदा हो जाय तो मैं यह चाहूँगा कि वह जल्दी-से-जल्दी मर जाय। कारण जनभावनाएँ, जन मानस की आकांक्षाएँ यदि एक चौखटे में जड़ गयीं, तालाब के जल-सी बँध गयीं, तो उस समाज को समापन की सीढ़ी उतरते कितनी देर लगेगी।

—शिवकुमार दुबे
३५।३, जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
बटलर मार्केट,
इलाहाबाद–२

परिचर्चा

घनानंद की प्रेयसी का नाम सुजान था

डॉ० किशोरीलाल गुप्त

'सम्मेलन पत्रिका', भाग ६२, अंक २, चैत्र-ज्येष्ठ, शक संवत् १८९८ में 'विविधा' के अंतर्गत डाँ० मोहन अवस्थी का एक लेख 'क्या घनानंद की प्रेयसी का नाम सुजान था?' छपा है। इसके प्रथम दो वाक्य हैं—

"घनानंद और सुजान की प्रेम-कथा बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु चिन्त्य यह है कि जहाँ भी इस कथा का उल्लेख हुआ है, वहाँ वह किंवदन्ती के ही आश्रित है, किसी भी विद्वान् ने अभी तक कोई ऐसा प्रमाण पेश नहीं किया है, जिससे सिद्ध हो जाय कि 'सुजान' घनानंद की प्रेयसी का वास्तविक नाम था।"

घनानंद और सुजान की प्रसिद्ध प्रेम-कथा हमें किंवदन्ती के रूप में प्राप्त रही है, इसमें संदेह नहीं, पर कम-से-कम एक विद्वान् ने अपनी शोध द्वारा इस किंवदन्ती पर वास्तविकता, प्रामाणिकता एवं ऐतिहासिकता की मुहर लगा दी है। आज से २५ वर्षों पूर्व आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा घनानंद जी की समस्त रचनाओं का संकलन, संपादन, प्रकाशन सं० २००९ वि० में हुआ। इस ग्रंथ की भूमिका में पृष्ठ ६६-६७ पर मिश्र जी ने घनानंद के समकालीन, उनके किसी निंदक द्वारा लिखित चार भड़ौवे दिए हैं। इनमें घनानंद की सुजान-प्रेमी होने के लिए घोर निन्दा ही नहीं की गई है, गाली गलौज तक दिया गया है। ये भड़ौवे सं० १८१२ में संगृहीत 'जस कवित्त' नामक काव्य संग्रह के हैं। आवश्यक समझ कर उन्हें यहाँ पूर्ण रूप से दे दिया जा रहा है।

पहले छंद में भड़ौवाकार ने घनानंद जी के सुजान के इजारबंद की जूँ होने की कल्पना की है—

> कबहूँक ख़ज़ावत में छुवती, तिहि आनंद कों तब हौं सरतौ।
> तब रेंगतौ केहुक अंगन पै, निज देह तिहीं रस सों भरतौ॥
> कहुँ चौंकि कै, भागनि सो गहती, तब हौं उन हाथन सों मरतौ।
> वह ईस कहूँ घन आनँद कों, जो सुजान-इजार की जूँ करतौ॥

इस छंद से घनानन्द की प्रिया का नाम 'सुजान' पुष्ट होता है। दूसरे छंद में भड़ौवाकार ने घनानंद को 'हुरकिनी कौ बंदा' कहा है। यह हुरकिनी तुरकिनी के वजन पर गढ़ा गया है और हूर से बना है। हूर का अर्थ है परी, अप्सरा, नर्तकी। इससे सुजान का नर्तकी होना सिद्ध है—

करै गुर-निंदा, वह हुरकिनी कौ बंदा,
महा निरघिनी गंदा, खात पानीर औ नान है।
बैन को चुरावै, ताकौ मजबून लावै,
कूर कविता बनावै, गावै रिझौली सी तान है।।
सुरा-घट-सोखी, देह मांस ही सों पोखी,
विप्र गैयन को दोषी, रूप धरे अभिमान है।
पाप को भवन, करै अगम-गमन,
ऐसौ मुड़िया अनंदघन जानत जहान है।।

इससे घनानंद के संबंध में निम्नांकित सूचनायें मिलती हैं—

१. घनानंद गुरु-निंदक थे।
२. यह हुरकिनी (नर्तकी सुजान) के दास थे।
३. यह अत्यन्त घिनौने और गंदे थे।
४. यह पनीर (दूध का बना एक पदार्थ) और नान (रोटी) खाते थे।
५. यह वाणी के चोर थे, (फारसी कविता की नकल करते थे)।
६. यह कवि थे।
७. यह गायक थे।
८. यह शराबी थे, घड़ों शराब पी जाते थे।
९. यह मांसाहारी थे।
१०. यह गो-ब्राह्मण के दोषी थे।
११. यह अपने रूप के अभिमानी थे।
१२. यह पाप के घर थे, परम पापी थे।
१३. यह अगम्या (मुस्लिम नर्तकी) के साथ गमन करने वाले थे।
१४. यह मुड़िया थे, सिर मुड़ाए रहते थे।
१५. घनानंद को सारा संसार जानता था।

इस छंद से निंदक ने तथ्य-शोधन में हमारी सहायता ही की है।

तीसरे छंद में सुजान, तुरकिनी और हुरकिनी तीनों एक साथ आ गए हैं, जिससे स्पष्ट है कि घनानंद की प्रेयसी का नाम सुजान था, वह तुरकिनी (मुसलमानिन) थी और हुरकिनी (हूर, नर्तकी) भी थी। देखें—

डफरी बजावै, डौम ढाढ़ी सम गावै,
काहू तुरकैं रिझावै, तब पावै झूठौ नाम है।
हुरकिनी सुजान तुरकिनी को सेवक है,
तजि राम नाम, वाकौं-पूजै कास-धाम है।।
\+ + +
लोहा ज्यों लगाम, जैसे चलनी को चाम है।

पीवै भंग कुंडा, संग राखै (दस) गुंडा,
भसुंडा (ये) अनंदघन मुंडा सरनाम है ।।

इस तीसरे छंद से निम्नांकित सूचनायें मिलती हैं—

१. घनानंद डफ बजाकर गाते थे।

२. यह तुरकिनी हुरकिनी (मुस्लिम वेश्या) सुजान के सेवक थे।

३. यह राम नाम न पूज कर, सुजान के 'काम-धाम' (भग) के उपासक थे।

४. यह भँगेड़ी थे।

५. यह सदैव गुण्डों को साथ में रखते थे।

६. यह मुंडा थे, (सिर मुंडा या मुछमुंडा ?)

७. यह सरनाम थे।

चौथे छंद से भी इनकी प्यारी का नाम सुजान और उसके तुरकिनी तथा हुरकिनी होने की पुष्टि होती है। इसमें भड़ौवाकार ने कहा है कि घनानंद विधाता से प्रार्थना कर रहे हैं कि हे प्रभु मेरे अंग-अंग से सुजान के उपयोग के लिए विभिन्न उपकरण बना दो—

मुदित अनंदघन कहत विधाता सों यौं,
खाल को आसन दीजौ, गारी मोहिं गावैगी।
मो मुख को पीकदान करियौ, सुजान प्यारी,
हुरकिनी तुरकिनी थुक्कै सुख पावैगी।
धोती को इजार, दुपटी को पेसवाज और,
देहुगे रुमाल ताकौ पूछना बनावैगी।
पगिया पायंदाज, कीजियो गरीब निवाज,
भरि गए मो मन पलिंग पर आवैगी ।।

इस भड़ौए पर आचार्य मिश्र का कथन है—

"भड़ौए के कर्ता महोदय घनानंद से बहुत चिढ़े हैं। 'जूँ', 'पीकदान' आदि बनने के अभिलाष की कल्पना में भड़ौवापन भरपूर है, पर अन्यत्र तो गाली-गलौज है। फिर भी इसमें घनानंद के वृत्त संबंधी तथ्यों के कुछ कण तो मिल ही सकते हैं।"

डॉ० अवस्थी ने अपने लेख में सुजान के संबंध में निम्नांकित और प्रश्न उठाए हैं और निष्कर्ष निकाले हैं—

१. घनानंद की प्रेयसी का नाम सुजान था कि जान ?

२. वह प्रेयसी हिन्दू थी या मुसलमान ?

३. यदि उनकी प्रेयसी हिन्दू वेश्या थी, तो उसके 'जान राय' नाम्नी होने की संभावना अधिक है। 'घनानंद कवित्त' में 'सुजान राय' एक बार भी नहीं आया है, 'जानराय' आठ बार आया है। 'जान' शब्द में मुसलमान होने का भी आभास मिलता है।

४. डॉ० अवस्थी का निष्कर्ष है कि "सुजान घनानंद की प्रेमिका का वास्तविक नाम न हो कर कवि-कल्पना द्वारा खोजा गया एक प्रतीक मात्र है, जिसका निर्माण उन्होंने माशूक-वाची 'वह' और 'जान' शब्दों को मिला कर किया है।"

मिरजा गालिब के एक शेर का एक मिसरा है—

पूछते हैं वह कि गालिब कौन है?

यहाँ 'वह' प्रिया के लिए प्रयुक्त है, पर 'वह' का अर्थ 'प्रिया' या माशूक है, यह नहीं माना जा सकता। डॉ० अवस्थी इस 'वह' का ब्रजभाषा रूप 'सो' से सुजान के 'सु' की उपहासास्पद सिद्धि करते हैं।

इन चारों प्रश्नों एवं निष्कर्षों के संबंध में निर्णयात्मक रूप से यह कहा जा सकता है कि—

घनानंद की प्रेयसी का नाम 'सुजान राय' था, जिसे वह अपने काव्य में केवल 'सुजान' नाम से अभिव्यक्त करते हैं। 'जान' सुजान का ही संक्षिप्त रूप है, वह 'गौहर जान' वाला जान नहीं है। 'जान राय' से 'सुजान राय' की सिद्धि हो जाती है। सुजान राय मुसलमान (तुरकिनी) थी। 'सो' और 'जान' से सुजान की सिद्धि काल्पनिक, तथ्यहीन, अप्रामाणिक और बालोचित है। सुजान राय का अस्तित्व तथ्य है। यह न कवि-सुलभ कल्पना है, न कवि-प्रयुक्त प्रतीक।

डॉ० अवस्थी ने सुजान को लेकर कुछ और भी ऊहापोह किए हैं, यथा—

१. सुजान शब्द का प्रयोग नेत्रों के विशेषण रूप में हुआ है।

पिय के मुंख कौतुक देखि सखी, निज नैन विशेष सुजान छकैं

२. सुजान शब्द का प्रयोग प्रायशः पुल्लिंग के रूप में हुआ है, नायक के अर्थ में।

३. सुजान शब्द कृष्ण के लिए व्यवहृत प्रतीत होता है।

४. यत्र-तत्र सुजान का स्त्रीलिंग प्रयोग भी है, शुद्ध नायिका के अर्थ में, जैसे 'जान लखी'।

५. एक छंद में सुजान राधा के लिए भी प्रयुक्त है।

इस सम्बन्ध में निवेदन है कि घनानंद जी को सुजान शब्द से मोह था। पहले वे अपनी लौकिक प्रेमिका के अर्थ में इसका प्रयोग करते रहे, फिर उनके प्रेम का जब उदात्तीकरण हुआ, तब यह सुजान शब्द, कृष्ण-वाचक, राधा-वाचक, सामान्य नायक वाचक, सामान्य नायिका वाचक हो गया। वैसे यह शब्द संज्ञा के अतिरिक्त विशेषण भी है और इसका विशेषण के रूप में भी प्रयोग मिल जाना अस्वाभाविक नहीं है। यत्र-तत्र सुजान के स्थान पर 'प्रवीन' भी प्रयुक्त है।

(१) 'सुजान' कवि की प्रेमिका रूप में

(क) नर्तकी सुजान

नैन के सैन में कोटिक मैन लजैं, भजैं तजि कै सर पाँचनि।
आनँद मै मुसक्यानि लखे, पछिल्योई परे चित चाह की आँचनि।।
ता पिय के हिय को हँसि हेरि लई, जु ठई सु नई गति नाचनि।
नूपुर-बीन सों लीन कै प्यारी, प्रवीन अधीन किए सुर साँचनि।। ४०१

इस छंद में 'सुजान' के स्थान पर समानार्थक शब्द 'प्रवीन' का प्रयोग हुआ है—क्योंकि सुजान वीन बजाने में 'प्रवीन' थी। वीणा बजाने में दक्ष ही प्रारंभ में 'प्रवीण' होता था, सुजान के अर्थ में इसकी व्यापकता तो उत्तरकालीन है।

(ख) गायिका सुजान

जान प्रवीन के हाथ को बीन है, मो चित राग भरयो नित राजै।
सो सुख साँच कहूँ नहि छावत, ज्यों ही बजावै लिएँ मन बाजै।।
भावती भीड़ मरोर दिएँ, घन आनँद सौ गुने रंग सौं गाजै।
प्यार सों तार सु ऐंचि कै तोरत, क्यों सुघराई पै लाजत लाजै।। २९३ ।।

इस छंद में 'जान' और 'प्रवीन' दोनों हैं।

(२) कृष्ण रूप में सुजान का प्रयोग

स्याम सुजान सबै-गुन-खानि, बजावत वैन महा सुर साचनि।
अंग त्रिभंग, अनंग भरे दृग, भौंह नचाइ नचावत नाचनि।।
कीरतिदा कुल मंडन ज्यों, निरखें भरि नैन बढ़ै सुख माचनि।
दानहू दै चुकी है घन आनँद, रीझ नहीं रुकिहै हित आँचनि।। ४१४ ।।

(३) राधा रूप में सुजान का प्रयोग

राधे सुजान, इतै चित दै, हित मैं कित कीजत मान मरोर है।
माखन ते मन कोंवरो ह्वै, यह बानि न जानत कैसें कठोर है।।
साँवरे सों मिलि सोहती जैसी, कहा कहिए कहिबे कों न जोर है।
तेरो पपीहा, जु है घनआनँद, है बृज-चंद पै तेरो चकोर है।। २९८ ।।

(४) सामान्य नायक रूप में

अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झिझकैं कपटी, जे निँसाक नहीं।।
घन आनँद प्यारे सुजान सुनौ, यहाँ एक तैं दूसरौ आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।। ८४ ।।

(५) सामान्य नायिका रूप में

हा हा करि हारी, न निहारी रूखियै महारी
मोहू सों चिन्हारी मानौ तनको नहीं कहूँ।
साधि के समाधि सी अराधति है काहि दैया
अरहि पकरि अति निहुरि करै न हूँ

प्रान-पति आरति जो जानै तौ सुजान प्यारी
नावैं न धरैयै, नावँ ऐसें औ कहा कहूँ
राका-निसि आली व्याली भई घनआनँद कों
ढरि चल्यौ चंदा, तू न बीर ढरी नेकहूँ॥ २९९

डा० अवस्थी की दो बातों पर और विचार करना है—

(१) "रीतिकाल में जब कृष्ण सामान्य नायक का पर्याय बन गया, तो 'सुजान' का सामान्य नायक के रूप में प्रयोग अस्वाभाविक नहीं है। लेकिन उसे सामान्य नायिका के अर्थ में व्यवहृत करना रीतिकालीन हिन्दी काव्य की प्रकृति से मेल नहीं खाता। अर्थात् 'सुजान' का पुल्लिंगवाची व्यवहार घनानंद ने परंपरा से लेकर रीतिकालीन प्रवृत्ति में ढाला, परन्तु उसका सामान्य नायिका रूप में स्त्रीवाची इस्तेमाल न तो परंपराजन्य है और न रीतिकालीन रसप्रवाहानुकूल।"

डा० अवस्थी की यह धारणा इसीलिए है कि वे सुजान को हाड़-माँस की नारी न मान कर, कवि-कल्पना-प्रसूत प्रतीक मात्र मानते हैं।

(२) "घनानंद ने सुजान या जान को 'बिसासी', 'निष्ठुर' आदि जिन विशेषणों से विभूषित किया है, वे नायिकार्थ में रीतिकालीन शृंगाररस परंपरा-पोषक नहीं हैं। नायिका को निष्ठुर, अत्याचारी आदि रूपों में चित्रित करना उर्दू शायरी में प्राप्त है।"

निश्चय ही 'बिसासी', 'निष्ठुर' आदि फारसी प्रभाव है; पर इन्हें सर्वत्र अस्वाभाविक एवं अयथार्थ नहीं कहा जा सकता। यहाँ भी वही नारी-हृदय है, जो फारस में है। यहाँ की भी नारी निष्ठुर और बिसासी हो सकती है, और सुजान राय थी ही, उसने घनानंद का साथ दिया ही कहाँ। फिर घनानंद तो स्वच्छंदमार्गी कवि थे। शायर परंपरा की लीक पर नहीं चलता; अपना पथ-निर्माण स्वयं करता है। घनानंद ने स्वयं अपना स्वच्छंद पथ-निर्माण किया। फारसी प्रभाव उन पर है, पर वह अत्यंत प्रच्छन्न है, भारतीय हो गया है।

अस्तु, घनानंद की बिसासी प्रिया का नाम सुजानराइ था। वह मुहम्मद शाह रँगीले के दरबार की सुन्दरी नर्तकी और सुरीली गायिका थी। वह मुसलमान थी। वही घनानंद के समस्त प्रेम-काव्य के मूल में है। अंततोगत्वा यही सुजान, स्याम सुजान एवं राधे सुजान में उदात्तता को प्राप्त हो गई। कवि ने स्वयं विष पिया, सहृदयों के लिए सुधा छोड़ गया—शाश्वत सुधा, अमर सुधा, काव्य सुधा।

—सुधवै, वाराणसी

⊙

घनानन्द और उनकी प्रेमिका

स्वामी वाहिद काज़मी

'सम्मेलन-पत्रिका' के गत अंक (भाग ६२, संख्या २) में प्रकाशित डॉ० मोहन अवस्थी जी का लेख दृष्टि से गुज़रा। घनानन्द की प्रेयसी के नाम पर प्रश्न चिह्न लगाकर उन्होंने जो

समस्या उठाई, इसमें उनकी सहज उत्सुकता तो उचित है किन्तु उत्तर रूप में जो समाधान किए गए हैं, उनमें कुछ औचित्य दृष्टिगोचर नहीं होता।

वे घनानन्द और सुजान के प्रेम-प्रसंग को किंवदंती पर आधारित स्वीकारते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है कि किसी भी किंवदंती का आधार आखिर क्या होता है। क्या वह नितान्त कपोल-कल्पित होता है अथवा उसकी वास्तविकता का कोई धरातल भी होता है? कोई भी किवदंती सर्वथा निराधार या अकारण नहीं कही जा सकती।

हिन्दीकाव्य साहित्य में ऐसे कवियों के उदाहरण भरे पड़े हैं जिनके व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध बातों की जानकारी विशेषरूप से उनके प्रेमप्रसंग जैसे मामलों में उनसे सम्बन्धित किंवदंतियों का आश्रय लेना ही पड़ता है; यथा रसखान की वह प्रिया कौन थी जिसके बाबत उन्होंने कहा है—

तोर मानिनी तें हियो, फोर मोहिनी मान।

बोधा और सुभान के प्रेम-प्रसंग की ऐतिहासिकता क्या है? इतना ही नहीं अपितु अनेकों कवियों की जाति, जन्म स्थान, गुरु-परिचय, जन्म एवं मृत्यु-तिथि आदि बातों की प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती और होती भी है तो उसमें विद्वानों का मतैक्य नहीं पाया जाता। कुछ कवियों के वास्तविक नामों तक पर अभी भी प्रश्न-चिह्न लगा हुआ है। इस सब के लिए सामान्यतः तर्क और इतिहास का नहीं बल्कि अनुमान, अन्तःसाक्ष्य एवं जनश्रुतियों के आधार पर ही उनकी प्रामाणिकता निश्चित की जाती है। कभी-कभी मूल नाम व उपनाम पर भी प्रश्न-चिह्न लग जाते हैं। घनानन्द का अपना ही नाम क्या था, यह अभी तक ज्ञात नहीं हो सका। घनानन्द नाम नहीं, उपनाम अधिक प्रतीत होता है।

घनानन्द मुग़ल बादशाह मुहम्मद शाह के दरबार में मीर मुंशी या 'खास क़लम' के उच्च पद पर आसीन थे। मुग़लों की परम्परागत विलासिता और उस दरबार के वातावरण ने, जिसका बादशाह अपनी रंगीन मिज़ाजी के कारण 'रंगीला' नाम से ही प्रसिद्ध हो गया, उन्हें रसिक प्रवृत्ति का तथा कवि-हृदय भी बना दिया होगा। वे स्वयं संगीत के अच्छे ज्ञाता तथा उत्तम गायक भी थे। यह अलग बात है कि उन्होंने कभी दरबार में गाना न गाया हो। राज दरबारों में कलाप्रवीण गायक-गायिकाओं व नर्तक-नर्तकियों को रखने की परम्परा भी रही है और उनमें परस्पर प्रणय-व्यापार चलते रहना भी एक सामान्य बात थी। ऐसी स्थिति में यदि घनानन्द भी किसी नृत्यांगना को दिल दे बैठे हों तो यह अस्वाभाविक व कौतूहलजनक नहीं लगता। खेद है कि अब तक कोई ऐसा प्रमाण नहीं जुटाया जा सका है जिसके आधार पर इस घटना के सत्यासत्य होने का दावा किया जा सके। घनानन्द-सुजान-प्रेम की प्रामाणिकता हेतु हमें उन सभी विद्वानों के निष्कर्ष से सहमत होने के अतिरिक्त अन्य कोई आसान उपाय नहीं दीखता। जिन्होंने ऐसा स्वीकार किया है, इनमें रघुराज सिंह, वियोगी हरि, आचार्य रामचंद्र शुक्ल आदि प्रमुख हैं। यद्यपि जार्ज ग्रियर्सन की धारणा से भी कुछ विद्वान् सहमत हो सकते हैं जिसने घनानन्द-सुजान-प्रेम को स्वीकार नहीं किया है। किन्तु ग्रियर्सन ने घनानन्द को बादशाह का मीर मुंशी भी स्वीकार नहीं किया है जबकि लगभग सभी विद्वान् इसे स्वीकारते

चले आए हैं। अतः यह बात युक्तियुक्त और सत्य प्रतीत होती है कि घनानन्द सुजान से प्रेम करते थे और उसी के कारण उन्हें बादशाह का कोपभाजन बन कर राजदरबार छोड़ना पड़ा था। प्रो० लक्ष्मणदत्त गौतम ने ठीक ही कहा है—"स्वच्छन्द कवियों के काव्य की पृष्ठभूमि निश्चित रूप से किसी हाड़-मांस वाली नायिका के रूप से ज्योतित है। वह केवल अलंकरण-बोझिल नायिका की जगमगाहट नहीं।" 'बोधा', 'आलम' और 'ठाकुर' ने स्पष्ट ही अपने प्रेम-सम्बोधनों को स्वीकार कर लिया है। यह स्वीकृति उनके काव्य को समझने में सहायक है। घनानन्द को तो जनश्रुति सुजान से सर्वथा सम्बद्ध करती ही है। अनुभूति की सच्चाई का ही परिणाम है कि इनका प्रेम एकनिष्ठ है और इनके द्वारा किए गए वर्णन मार्मिक हैं। घनानन्द ने अपनी प्रेमिका का जो स्वरूप वर्णित किया है, वह जैसे हृदय के नेत्रों से देखा-परखा और पचाया हुआ साक्षात् जीवन-चित्र है। तो, जब अनेक ग्रंथ और विद्वज्जन इस तथ्य को स्वीकार कर रहे हों (भले ही उनमें से कुछ ऐसा कहा जाता है वाले दायरे के भीतर मान रहे हों) तो हम किस आधार पर और किन कारणों से इस तथ्य को नकार दें ?

सुजान शब्द के साथ घनानन्द द्वारा प्रयुक्त जिन विशेषणों की लंबी सूची डा० मोहन अवस्थी ने प्रस्तुत की है, निश्चित ही वे सारे विशेषण पुल्लिंग में हैं और पुल्लिग होने का एक विशेष कारण है। अपने काव्य के आधार पर घनानन्द फ़ारसी-काव्य से प्रभावित जान पड़ते हैं, और विरहजन्य प्रेमपीड़ा की सफलतम अभिव्यक्ति के समय वे सूफ़ी-काव्य के काफ़ी निकट आ जाते हैं। घनानन्द बीसियों स्थल पर फ़ारसी भाव और शैली के इतने अधिक निकट हैं कि यदि उनके छंदों में ब्रजभाषा के स्थान पर फ़ारसी शब्दावली रख दी जाए तो वे फ़ारसी-काव्य का उत्तम नमूना बन सकते हैं। बादशाह के मीर मुंशी और जाति से कायस्थ होने के आधार पर सहज ही यह कहा जा सकता है कि वे फ़ारसी भाषा तथा काव्य—जो उस समय की सर्वाधिक सम्मानित तथा राजभाषा भी थी—का भी ज्ञान रखते होंगे। ब्रजभूमि में बसने से पूर्व की उनकी कोई हिन्दी रचना भी प्राप्त नहीं होती। फ़ारसी काव्य से बहुत अधिक प्रभावित होने के कारण ही उनके हिंदी-काव्य में यह तथ्य दृष्टिगोचर होता है कि उसमें अपने प्रेम-पात्र को स्त्री व पुरुष दोनों रूपों में सम्बोधित किया गया है। सूफ़ी संत ईश्वर को अपनी प्रियतमा मान कर भी उसे पुरुषवाची शब्दों से सम्बोधित करते आये हैं। सामान्य उर्दू-फ़ारसी-काव्य में भी माशूक या मेहबूब के लिए पुरुषवाची शब्दावली प्रयोग करने की ही परम्परा है। घनानंद के अनेकों छंद तो ऐसे भी हैं जिन्हें भावों तथा शैली के आधार पर उर्दू शायरी की तुलना में भी रखा जा सकता है। यथा—

घनानन्द कहते हैं—'त्यों इन आंखिन बानि अनोखीअछानि कहूँ नहिं आनि तिहारियैं।
'हसरत' ने कहा है—हविसे-दीद मिटी है न मिटेगी 'हसरत'।
देखने के लिए चाहे उन्हें जितना देखो॥
घनानन्द की पंक्ति हैं—जब तैं निहारे घनआनंद सुजान प्यारे।
तब तैं अनोखी आगि लागि रही चाह की॥
शेफ्ता का एक शैर है—शायद इसी का नाम मुहब्बत है 'शेफ्ता'।
इक आग सी है सीने के अंदर लगी हुई॥

अथवा—इसको मुहब्बत क्या जानूं लेकिन इतना मैं जानू हूँ।
अंदर ही अंदर सीने में मेरे दिल को कोई खाता है।।

घनानन्द की पंक्तियाँ हैं—सुनी है कै नांही प्रगट कहावति जू।
काहू कलपाथे है सु कैसे कल पाये है।।

किसी अज्ञात शायर ने कहा है—तासीरे इश्क होती है दोनों तरफ़ जनाब।
मुमकिन नहीं कि दर्द इधर हो उधर न हो।।

उधर घनानन्द फ़रमाते हैं—आँखैं जो न देखैं, तो कहा है कछु देखति ये।
ऐसी दुखहाइनि की दसा आये देखिये।।

इधर उस्ताद 'ज़ौक़' कह रहे हैं—दिल वो क्या जिसको नहीं तेरी तमन्नाए-विसाल।
चश्म वो क्या जिसको तेरे दीद की हसरत नहीं।।

अपने पूरे काव्य में जहाँ-जहाँ घनानंद ने नयनों की चपलता, बंक विलोचन, भृकुटि-विलास, कटाक्ष, बांकी चितवन आदि का वर्णन किया है वहाँ पर तो फ़ारसी प्रभाव बिल्कुल स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त वे मीर से भी बहुत अधिक निकट प्रतीत होते हैं। कुछ नमूने देखिए—

घनानंद ने फ़रमाया है—'मो गति बूझ परे तब ही जब होहु घटीक हूँ आप ते न्यारे।'

'मीर' कहते हैं—दिखाई दिये यूं कि बेख़ुद किया।
हमें आपसे भी जुदा कर चले।।

अथवा, उसे ढूंढ़ते 'मीर' खोये गये।
कोई देखे इस जुस्तजू की तरफ़।।

अथवा, तेरी गली में आकर खोये गये हैं दोनों।
दिल हमको ढूंढ़ता है हम दिल को ढूंढते हैं।।

घनानंद का अनुभव है—'देह दहै, न रहै सुधि गेह की, भूलिहूं नेह का नांव न लीजे।

'मीर' साहब़ का भी यह कहना है—वसीयत 'मीर' ने मुझको यही की।
कि सब कुछ होना तू आशिक न होना।।

घनानंद अपने काव्य का आधार अपनी वेदना को बताते हुए कह रहे थे—
लोग हैं लागि कबित्त बनावत, मोहि तो मेरे कबित्त बनावत।

तभी 'मीर' यह जता रहे थे—मुझको शाइर न कहो 'मीर' कि साहब मैंने।
दर्दो-गम कितने किये जमा तो दीवान किया।।

ऐसा नहीं कि यह प्रभाव घनानंद में ही पाया जाता हो। उनके पहले रसखान आदि के यहाँ भी फ़ारसी काव्य का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है जिसके कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत हैं—

फ़ारसी के प्रसिद्ध सूफ़ी कवि ख्वाजा 'हाफ़िज़' शीराज़ी का एक शेर है—

इश्क़त रसद ब-फ़रयाद गर ख़ुद बसान 'हाफ़िज़'।
क़ुरआं ज़बर बख्वानी बा-चारवह रिवायत।।

अर्थात्—यदि तुम इतने ज्ञानी हो जाओ कि संपूर्ण कुरआन, चौदह रिवायतों सहित भी कंठस्थ हो तो भी बिना इश्क़ के तुम्हारा काम नहीं चलेगा,

बिल्कुल यही बात रसखान ने भी कही है—**सास्त्रन पढ़ पंडित भये, कै मौलवी कुरान।**

जुपै प्रेम जान्यौ नहिं कहा कियौ रसखान।।

एक और सूफ़ी संत मौलाना रुम ने फ़रमाया है—**हर करा जामा ज़ इश्के-चाक शुद।**

अज़े हिर्सो-जुम्ला ऐव-ओ-पाक-शुद।।

अर्थात्—जिसने प्रेमोन्माद में अपने कपड़े फाड़ लिए वह लोभ तथा अन्य विकारों से रहित हो गया।

रसखान कहते हैं— **काम, क्रोध, मद, मोह, भय, लोभ, द्रोह, मत्सर्य।**

इन सब ही ते प्रेम है परे कहत मुनिवर्य।।

कुछ और भी उदाहरण प्रसंगानुसार यहाँ रोचक प्रतीत होते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है कि जब महाकवि बिहारी यह लिख रहे थे—

औंधाई सीसी सुलखि, बिरह-ज्वाल बिललात।
बिच ही सूख गुलाब गौ, छींटौं छुयौ न गात।।

तब, उनके समकालीन शाह मुबारक 'आबरू' अपने प्रियतम से पूछ रहे थे—

क्या सबब तेरे बदन के गर्म होने का सजन।
आशिकों में कौन जलता था बदन जिसके लगा।।

जब प्रवीणराय पातुर मिलन-रात्रि में भोर की सूचना देने से रुष्ट होकर क्रूर मुर्गे को कोठरी में बंद कर देना चाहती थी—

कूर कुक्कुट कोटि कोठरी किवार राखौं।

तभी जनाब 'बादशाह' मुर्गे की गर्दन पर छुरी फेरने का आयोजन किए बैठे थे—

अगर अब के बारी शबे-वस्ल बोला।
छुरी और मुर्गे-सहर का गुलू है।।

सुजान के लिए 'रसमूरति', 'रसीले', 'केलि की कलानिधान', 'साँवरे' आदि शब्द अन्य विद्वानों सहित डा० अवस्थी को भी भले ही कृष्ण के वर्ण एवं स्वभाव आदि की ओर संकेत करते प्रतीत होते हों, फिर भी हम उनसे सहमत नहीं हैं। यों घनानन्द के यहाँ कृष्ण-काव्य विषयक यत्र-तत्र कोई छंद मिल जाये, यह अलग बात है। किंतु सुजान तथा उसके विशेषण वाले शब्द कृष्ण की ओर नहीं, बल्कि कवि की अपनी प्रेमिका के वर्ण, स्वभाव और उससे इनके मुक्त-प्रेम-सम्बन्धों की ओर ही स्पष्ट और अधिक संकेत करते हैं। यद्यपि घनानंद की भक्ति-भावना पर जिन विद्वानों ने अपने मत प्रकट किए हैं, उनमें से लाला भगवानदीन 'दीन' के अनुसार वे सखी-सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे। आचार्य शुक्ल उन्हें निम्बार्क-सम्प्रदाय के अन्तर्गत मानते हैं। वियोगी हरि, घनानन्द को वैष्णव तो मानते हैं किंतु किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं

बताते। शंभुप्रसाद बहुगुना उन्हें प्रेम रहस्योन्मुखी संतों के अधिक निकट पाकर सगुण रसवादी वैष्णवों की परम्परा में स्थान देते हैं। श्रीमती ज्ञानवती त्रिवेदी घनानन्द का झुकाव वल्लभ-सम्प्रदाय की ओर मानती हैं। विश्वनाथप्रसाद मिश्र उन्हें प्रेम-मार्ग का संत-कवि स्वीकारते हैं और डा० मनोहर लाल गौड़ के अनुसार वे सखी-सम्प्रदाय के थे, उनकी भक्ति मधुरा भक्ति थी। किंतु फिर भी यह बात ज़ोर देकर नहीं कही जा सकती कि घनानन्द की कविता भक्ति-काव्य है और उसमें प्रयुक्त घनानन्द, सुजान आदि शब्द कृष्ण व राधा के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। यह बात युक्तियुक्त नहीं जान पड़ती। घनानन्द के सूक्ष्म अध्ययन से यही बात प्रकट होती है कि उनके विरह की ये सारी पुकार अपनी सुजान के लिए ही है। शत-प्रतिशत उस संसारी वेश्या-स्त्री के लिए जिससे उन्हें अथाह प्रेम है और जिसके विरह में न वे जी सकते हैं न मर सकते हैं। एक छंद का उदाहरण लें—

> दृग छाकत हैं छवि ताकत ही मृगनैनी जबै मधुपान छकै।
> घनआनन्द भीजि हंसै हुलसै फुकि झूमति घूमति चौकि चकै।।
> पल खोलि ढकें लगि जान जकै न सम्हारि सकैं लकैं अरु नवकै।
> अलबेली सुजान के कौतुक पै अति रीझि इकौसी ह्वै लाज थकै।।

क्या यहाँ किसी आलौकिक नायिका के मदिरापान व उससे उत्पन्न दशा का वर्णन हुआ है? अन्यान्य स्थलों पर भी इस प्रकार के वर्णन काल्पनिक सूक्ष्मता की अपेक्षा अनुभूति पर स्थूलता से अधिक युक्त हैं। निश्चित ही इनमें इन्द्रिय स्पर्श की (सु) गन्ध भी विद्यमान है। एक और नमूना प्रस्तुत है—

> 'आतुर ह्वै रस-आतुर होहु न, बात सयान की जात क्यों चूके।
> ऐसी अठाननि ठानत हौ कित धीर धरौ न, परौ ढिग टूके।।
> देखि जियौ, न छियौ घनआनन्द, कोवरे अंग सुजान वधू के।
> चोली चुनावट चीन्हैं चुभै चपि होत उजागर दाग उतू के'।।

अथवा —पौढ़े घनआनन्द सुजान प्यारी परजंक,
धरे धन अंग तऊ मन रंक-गति है।।
भूषन उतारि अंग अंगहि सम्हारि नाना,
रुचि के विचार सों समोय सीझी मति है।।

ऐसे चित्रण घनानन्द की श्रेष्ठ सृजन-प्रतिभा के परिचायक हैं और ऐसे वर्णन कल्पनागत नहीं कहे जा सकते। बल्कि इनमें अनुभव की पकड़ है और घनानन्द के अन्तर में यह गहरे पैठे हुए हैं। सुजान के साथ उनके व्यक्तिगत सम्बन्धों के चित्र ही ऐसे वर्णनों को कहा जाना चाहिए, यहाँ किसी आलौकिक व्यापार की चर्चा नहीं चल रही है, ऐसे नमूनों से घनानन्द का काव्य भरा पड़ा है। फिर कैसे कहा जा सकता है कि उनका काव्य श्रीकृष्ण-भक्ति की ओर उन्मुख है?

डा० अवस्थी लिखते हैं—"नायकवाची के लिए तो कहा जा सकता है कि रीतिकाल में जब 'कृष्ण' शब्द सामान्य नायक का पर्याय बन गया तो 'सुजान' का सामान्य नायक के

अर्थ में प्रयोग अस्वाभाविक नहीं है। लेकिन उसे सामान्य नायिका में व्यवहृत करना रीतिकालीन-हिंदी काव्य की प्रकृति से मेल नहीं खाता। अर्थात् 'सुजान' का पुल्लिगवाची व्यवहार घनानन्द ने परम्परा से लेकर रीतिकालीन प्रवृति में ढाला परन्तु उसका सामान्य नायिका-के रूप में स्त्रीवाची इस्तेमाल न तो परम्पराजन्य है और न रीतिकालीन रसप्रवाहानुकूल" हमारा निवेदन है कि वह हो भी नहीं सकता, होना चाहिए भी नहीं। कारण? वही है कि घनानन्द रीतिकालीन अवश्य हों किंतु रीतिमुक्त तथा निपट स्वच्छन्द प्रेम-मार्ग के मस्त पथिक हैं, जो पहले से वने-वनाये मार्ग पर चलना पसंद न कर के अपने लिए बड़ा अद्भुत बहुत अनूठा मार्ग बना कर चले हैं। यही तो उनकी सब से बड़ी विशेषता है कि उन्होंने अपने काव्य में ब्रजभाषा के माध्यम से फ़ारसी-काव्य की विशेषताओं से युक्त अपनी वेदना को अभिव्यक्ति दी है। यह उनकी मौज है कि जहाँ उन्होंने ठीक समझा 'सुजान' को स्त्रीवाचक प्रयोग किया और जहाँ पुरुषवाचक उचित जाना, वहाँ वैसा व्यवहृत किया।

'सुजान' के अतिरिक्त घनानन्द ने 'जान' शब्द भी बहुत बार प्रयुक्त किया है—स्त्रीवाची 'जान प्यारी', 'जान लखी', 'जानह्वै मानमई' आदि तथा 'जान दुलारे', 'जानपियारे' 'जान अमोही', 'जीवन आधार' आदि पुरुषवाची दोनों ही रूपों में। इससे एक और प्रश्न डा० अवस्थी उठाते हैं—"घनानन्द की प्रेयसी का नाम सुजान था या जान था?" उत्तर यह है कि नाम तो उसका सुजान ही रहा होगा किंतु जहाँ घनानन्द ने उसको नाम से पुकारना चाहा है वहाँ 'सुजान' और जहाँ केवल 'जान' कहा वहाँ उसका अर्थ प्रेमिका या माशूक से है। डा० अवस्थी शायद यह भूल गए कि सुजान और जान के अतिरिक्त घनानन्द ने 'जानी' शब्द भी प्रयोग किया है। 'जानी' उर्दू-फ़ारसी काव्य में तो प्रेमपात्र के लिए आता ही है, हिन्दी काव्य में भी चलता है। कवयित्री ताज की बड़ी प्रसिद्ध पंक्ति है—**'सुनो दिलजानी, मेरे दिल की कहानी'**।

महाकवि 'सीतल' की कविता में भी इसका प्रयोग मिलता है। यथा—

दृग स्याह मरीचि लपेटे ही रंग हुआ सोसनी सेली का।
जानी! यह तदगुण भूषण है पंचरंगा हार चमेली का।।

अर्थात्—'जानी' भी स्त्रीवाची व पुरुषवाची दोनों प्रकार से प्रयोग किया जा सकता है।

डा० अवस्थी का यह कथन कि—"मध्यकालीन हिंदू पातुरों के नाम 'राय' प्रत्यान्त होते थे जैसे प्रवीनराय, रामराय आदि" ठीक तो है किन्तु कुछ ही सीमा तक क्योंकि कइयों ऐसी वेश्याएँ हो गई हैं जिनके नाम में राय प्रत्यान्त नहीं लगा है जैसे नागरीदास जी की रक्षिता, शिष्या और प्रेमिका 'रसिक बिहारी बनी ठनी' एक वारांगना-कुल की स्त्री ही थीं और कृष्ण-काव्य की अच्छी कवयित्री थी। छात्र कुंवरि बाई भी कृष्ण-काव्य की लेखिका तथा वारांगना स्त्री थीं। बाज़बहादुर की वेश्या-प्रेयसि जो कविता भी करती थी, काम ना रूपवती था। ओरछा राज्य की आश्रित वेश्या तीनतरंग भी कविता करती थी। इसके विपरीत तुलछराय राजा मानसिंह की रक्षिता रानी ही थी कोई वेश्या नहीं, वह भी कवयित्री थी। वे आगे कहते

हैं—"अतः उसका नाम सुजानराय हो सकता है"। जी नहीं, कदापि नहीं हो सकता। एक तो इसलिए कि सुजान हिंदू नहीं, मुसलमान नर्तकी थी, वह भी रंगीले बादशाह के दरबार की, और मुसलमान दरबारी नर्तकियों के प्रायः ऐसे नाम नहीं पाए जाते हैं। दूसरे, खुद वक़ौल डा० अवस्थी—"लेकिन सुजानराय शब्द घनानन्द कवित्त में एक बार भी नहीं आया जबकि 'जान राय' आठ बार प्रयुक्त हुआ है।" फिर वह कहते हैं—"इसलिए यदि उनकी प्रेयसि हिन्दू वेश्या थी तो उसके 'जानराय' नाम्नी होने की संभावना अधिक है।" हमारा निवेदन है कि उसके जानराय नाम्नी होने की तनिक भी संभावना नहीं है, ऐसी संभावना न होने के दो प्रमुख कारण हैं। एक तो यह कि सुजान हिंदू नहीं, मुसलमान थी। उसका मुसलमान होना भी कई विद्वान् स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त एक और प्रमाण भी फ़िलहाल देना पर्याप्त होगा। लखनऊ के डा० भवानीशंकर याज्ञिक की ओर से कुछ 'भड़ौआ छंद' भी प्राप्त किए गए हैं। डा० मनोहर लाल गौड़ ने उनको संकलित भी किया है। इनमें से चार छंद ऐसे हैं जिनमें छंदकार ने घनानंद-सुजान-प्रेम-वर्णन बड़े ही अशिष्ट तथा निन्दापरक शब्दों में किया है। छंदों के प्रारंभ में लिखा मिलता है—

'कायथ आनंदवन महाहरामजादो हो। सु ब्रज कि छटा में आयो परन्तु अपजस वाको थिर है तको वर्णन'।

उन चार छंदों में से एक यह है—

> **उघरी बजावे डोम ढाढ़ी सम गावे काहु।**
> **तुरकै रिझावै तब पावै झूठो नाम है॥**
> **तुरकिनी सुजान तुरकिनी को सेवक है।**
> **तजि रामनाम वाको पूजै काम-धाम है॥**

यहाँ व्यक्त निंदा-भाव छंदकार का अपना कलुष है। किंतु इस छंद से इतना तो पता चलता ही है कि घनानन्द सुजान से प्रेम करते थे और सुजान मुस्लिम वेश्या थी।

इसके अलावा घनानन्द ने 'जानराय' का व्यवहार प्रेयसि के नाम के लिए नहीं किया है, वरन् वह ठीक उसी प्रकार से किया है जिस प्रकार शायरी में जानेमन, जानेजहाँ, जानेवफ़ा इत्यादि किया जाता है। 'जानराय' से कोई नाम जैसी वस्तु ध्वनित ही नहीं होती। बड़े खींचतान के बाद यह तो संभव है कि इससे घनानन्द का प्रयोजन बादशाह तथा उस वेश्या के सम्बन्धों को इंगित करना रहा हो। अर्थात् बादशाह भी उसे प्रेमवश अपनी जान (माशूक़) कहता हो। यह शब्द एक उपालंभ-रूप में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। इसकी भी संभावना सोची जा सकती है। अर्थात् बादशाह व सुजान के सम्बन्धों से चिढ़ कर घनानन्द उसे बादशाह की प्राणप्यारी कह गए हों 'राय' यदि स्वामी के अर्थ में समझा जाए तो भी यह समस्या किसी हद तक सुलझ जाती है।

> **जानराय जानत सबै अन्तरगत की बात।**
> **क्यौं अजान लौं करत फिर मो घायल पर घात॥**

जैसा कि डा० अवस्थी का मानना है, यह ठीक है, कि मुसलमान वेश्याओं के नाम

'जान' प्रत्यान्त के साथ पाये जाते हैं किंतु हर स्थान पर यह बात भी लागू नहीं होती। वस्तुतः वेश्याओं के, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान बहुधा दो नाम होते थे। एक तो उनका घरेलू नाम दूसरा वह जिससे वे प्रसिद्ध होती थीं। आसानी के लिए उसे 'प्रोफ़ेशनल नेम' कह सकते हैं। यह दूसरे प्रकार के नाम ही विशेषकर मुस्लिम वेश्याओं के 'जान' प्रत्यान्त होते थे। फिर यदि वे शाइरी भी करती थीं तो अपने उपनाम कुछ और चुनती थीं। जैसे अचपल, आरायश, उमराव, बस्ती, बन्नो, बेगम, परी, प्यारी, तसल्ली, जाफ़री, हिजाब, हुस्न, हशमत, हिना, हूर, हया, खुर्शीद, ज़ोहरा, शरारत, शबाब, शीरी, संदल आदि उन मुस्लिम वेश्याओं के नाम-उपनाम हैं जो उर्दू या फ़ारसी में काव्य-रचना भी करती थीं। और यास्मीन, नाज़नीन, नजीबन, नज़ाकत, गौहर, लालन, लालाः, सनम, सितम, शर्म आदि उन शाइराओं के उपनाम हैं जो हिन्दू वेश्याएं थीं। उर्दू-फ़ारसी-तज़किरह-ग्रन्थों में इनके विवरण प्राप्त हैं। यह भी हो सकता है कि सुजान का वास्तविक नाम कुछ और हो मगर वह प्रसिद्ध इसी नाम से रही हो।

डा० अवस्थी जी आगे कहते हैं—'अब इस गुत्थी को सुलझाने के लिए 'सुजान' अथवा 'जान' की व्यंजना पर ध्यान देना चाहिए। घनानन्द ने सुजान या 'जान' को 'बिसासी', 'निष्ठुर' आदि जिन विशेषणों से विभूषित किया है वे नायिकार्थ में रीतिकालीन-श्रृंगाररस-परम्परा पोषक नहीं हैं।' यहाँ हमें कुछ निवेदन करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि उन्होंने स्वयं ही यह कहकर आगे बात साफ़ कर दी है कि—'नायिका को निष्ठुर-अत्याचारी आदि रूपों में चित्रित करना उर्दू शाइरी में प्राप्त है, साथ ही वहाँ उसे पुल्लिग शब्दों द्वारा सम्बोधित किया जाता है, उर्दू शाइरी में माशूक़ के लिए 'जान' शब्द आता है, जो ह्रस्व-रूप में 'जां' रूप धारण करता है।' उदाहरण रूप में उन्होंने जो पंक्ति दी है उसका अर्थ उस समय तक स्पष्ट नहीं हो सकता जब तक कि उक्त पंक्ति (मिस्रे) से पूर्व का मिस्राः ज्ञात होकर पूरा शेर सामने न हो। यदि इसे यों रखा जाये, जैसा कि उन्होंने उद्धृत किया है।

एक छोड़ा न ज़िंदा जां तूने।

तो इसका अर्थ होगा—तेरे कारण एक भी व्यक्ति सप्राण न बचा। तब अनिवार्य नहीं कि यह बात प्रेयसि को सम्बोधित करके ही कही गई हो। और यदि इसे यों रखा जाय—एक छोड़ा न ज़िन्दा, जां तूने !

तो इसका अर्थ होगा—मेरे प्रिय ! तूने किसी को भी जीवित न रहने दिया।

इसी प्रकार ग़ालिब के एक शैर की पंक्ति जो उन्होंने यों उद्धृत की है—

तेरे वादे पर जिये लो ये जान झूठ जाना।

इसमें एक शब्द 'हम' छूट गया है। वह इस प्रकार है—

तेरे वादे पर जिये हम तो ये जान, झूठ जाना।

और इसका अर्थ पूर्वोल्लिखित पंक्ति में प्रयुक्त 'जान' का ह्रस्व रूप 'जां' के समानार्थी कतई नहीं है। वरन् इसमें ग़ालिब अपने प्रिय से यह कह रहे हैं कि-तेरे वादा करने के पश्चात् भी हम जो यों जीवित हैं तो तू यह समझ (जान) ले कि हमने तेरे वादे को सत्य नहीं मिथ्या ही समझा था

(क्योंकि व् सदा का झूठा है) आगे वे बिल्कुल स्पष्ट कर देते हैं—'कि खुशी से मर न जाते अगर एतबार होता'।

'जान' शब्द उर्दू शाइरी में प्राणप्यारे, प्राणप्यारी और केवल प्राण तीनों के अर्थों में प्रयोग किया जाता है। हिंदी के प्राचीन कवियों ने भी इसे इन्हीं अर्थों में प्रयोग किया है। कवि 'कुलपति' ने बड़ी ख़ूबी से—माशूक़ और प्राण दोनों ही अर्थों में इसे बांधा है। उनकी पंक्ति है—

देर की न ताब, जान होत है कबाब, बोल
हयाती का आब बोल मुख-माहताब से।।

'बोधा' के यहाँ भी दिलवर, दिलजान शब्द आदि प्रचुरता से इसीलिए मिलते हैं कि घनानन्द की भाँति बोधा पर भी फ़ारसी-काव्य का बड़ा प्रभाव है। इनकी एक रचना 'इश्कनामा' तो अपने नाम के अनुरूप फ़ारसी प्रभाव से बहुत अधिक रंजित है। किंतु फ़ारसी में 'दिलजान' शब्द कभी प्रयुक्त नहीं होता, जैसा कि डा० अवस्थी ने बोधा के उदाहरण में दिया है। बल्कि वह सही शब्द 'दिलोजान' या 'दिल-ओ-जां' है (मेरे प्राण तथा हृदय) हाँ यह संभव है कि छंद के एतबार से दिलोजान को बिगाड़ कर दिलजान कर लिया गया हो तो—

सोवत में तो कहं तज्यो हे दिलबर दिलजान।

किन्तु फिर भी दिलबर सम्बोधन के साथ दिलजान सम्बोधन का कोई औचित्य स्पष्ट नहीं होता है।

डा० अवस्थी अपना निर्णय देते हुए कहते हैं—'तात्पर्य यह कि 'वह' तथा 'जान' दोनों ही माशूक़वाची शब्द हैं' यहाँ तक तो ठीक है लेकिन इन्हीं दोनों के लिए ही और सदा ही इन दो अर्थों में इनका प्रयोग नहीं होता बल्कि प्राण के लिए भी होता है और 'वह' अनिवार्य नहीं कि माशूक़ के लिए ही बोला गया हो। वे आगे कहते हैं—'घनानन्द ने इन दोनों को मिला दिया सो (वह) + जान, और शब्द बन गया सोजान = सुजान। अर्थ हुआ 'वह माशूक़'। यदि सु (सो का ह्रस्व-रूप) को सर्वनाम न मान कर उपसर्ग माने तो 'सुजान' का अर्थ 'सुन्दर माशूक़' होगा'/ नहीं, श्रीमान ! नहीं। आप अर्थ का बिल्कुल अनर्थ किए डाल रहे हैं। यह अनूठा विश्लेषण आपको ही मुबारक हो। हमारा निवेदन यह है कि एक संपूर्ण शब्द सुजान को इस प्रकार बलात् तोड़ना-मोड़ना भाषा के साथ घोर अन्याय करना है। यह शब्द सुजान अपने इसी मूलरूप में व्यक्ति-विशेष के सम्बोधन-रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। और फिर 'वह माशूक़' ऐसा कोई सम्बोधन कहीं देखने में नहीं आता है, न हो सकता है। केवल एक ही सम्बोधन होगा या 'वह' या 'माशूक़'। यहाँ 'सु' कोई उपसर्ग है ही नहीं तो उसको 'जान' के साथ लगाकर 'सुजान' होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जान अपने आप में पूर्ण है तथा सुजान अपने आप में 'पूर्ण है। इसीलिए आगे वे (डा० अवस्थी) स्वयं ही कुछ दुविधा में पड़कर कहते दीखते हैं—'प्रेमी अपने माशूक़ को कभी सुन्दर माशूक़ कहे और कभी केवल माशूक़ कहे यह अनुचित है। उसके लिए तो वह सदैव एक रूप है।' आपकी सूचना के लिए निवेदन करूं कि उर्दू शाइरी

में प्रसंगानुसार कभी सुन्दरमाशूक़ और कभी केवल माशूक़ जायज़ है, अनुचित नहीं है। वहाँ कोई आग्रह नहीं है। प्रेयसि को माहेजबीं भी कहते हैं और केवल माह (चन्द्रमा) भी; रुख़्क़ेक़मर भी कहा जाता है और क़मर भी। जानेवफ़ा भी कहा जाता है और बेवफ़ा भी। 'उस' को सितमईजाद भी कहते है और मेहरबान भी। बड़ा कठिन है इस कूचे (शाइरी) का रहस्य पाना क्योंकि एक ओर इसमें प्रिय को आरामेजां कहते हैं तो आफ़तेजां भी कहते हैं। ग़ालिब ने कहा है—

जफ़ायें करके अपनी याद शरमा जाये है मुझसे।

डा० अवस्थी का यह मत बिल्कुल भ्रामक है कि—'अतः 'सु' को सर्वनाम मानना ही ठीक है। घनानन्द ने जहाँ सर्वनाम का प्रयोग नहीं किया वहाँ अपने प्रेम पात्र को 'जान' कहा और जहाँ सर्वनाम लगाया वहाँ 'सुजान' कह कर पुकारा।' कोई भी हिंदी भाषी व्यक्ति आसानी से समझ सकता है कि यहाँ न तो कोई उपसर्ग है न सर्वनाम है बल्कि 'जान' व 'सुजान' दोनों संज्ञा हैं और इनका प्रयोग ज्यों का त्यों घनानन्द ने अपनी प्रेयसि को सम्बोधित करने में ही किया है। हाँ यह संभव हो सकता है कि स्थिति विशेष में उन्होंने सुजान शब्द का प्रयोग चतुर, जानकार या ज्ञाता के समानार्थी रूप में किया हो किंतु अत्यन्त अल्प ही। एक उदाहरण से हमारी बात कदाचित् अधिक आसानी से समझ में आ जायेगी। बोधा की प्रेयसि का नाम सुभान बताया गया है। हमें इस शब्द पर हमेशा से आपत्ति रही है क्योंकि 'सुभान' कोई शब्द नहीं होता। वह शब्द 'सुब्हान' है और ध्यान रहे कि घनानन्द की भाँति बोधा, आलम, आदि की प्रेमिकाएं भी मुसलमान ही थीं। यह 'सुब्हान' शब्द अरबी भाषा का है जिसे ईश्वर की प्रशस्ति-रूप में प्रयोग किया जाता है। माशाअल्लाह की भाँति सुब्हानल्लाह भी एक सामान्य तकिया कलाम है। क़ुरआन में जहाँ भी ख़ुदा की महिमागान या स्तुति है वहाँ अधिकतर इसीका प्रयोग मिलता है। नमाज़ में फुकते और सिजदा करते समय बोली जाने वाली शब्दावलि में प्रथम यही शब्द आता है। मुस्लिम होने के कारण बोधा की प्रेयसि का नाम सुब्हान था। जो हिंदी में ब्+ह='ब्ह' के स्थान पर 'भ' हो गया और 'सुभान' कहा जाने लगा। यदि किसी मुसलमान का नाम सुभान ख़ाँ मिले तो वह भी गवांरूपन का लक्षण है। सही नाम सुब्हान ख़ाँ है। अब डा० अवस्थी की विश्लेषण-पद्धति-अनुसार यदि इस शब्द का भी पोस्टमार्टम किया जाये तो 'सु' (वह) +भान सोभान=सुभान अर्थात् 'वह सूर्य' अर्थ हुआ। अवस्थी जी की पद्धति के आधार पर इस शब्द के कई रोचक अर्थ प्रकट होंगे जैसे शुभ-सूर्य, सुन्दर-सूर्य, मांगलिक-सूर्य आदि आदि। लेकिन एक अच्छे खासे शब्द की टांग तोड़ना क्या उसके साथ अन्याय नहीं है। किन्तु कुछ विद्वान अपने मताग्रह के लिए शब्दों से खिलवाड़ करना भी उचित समझ लेते हैं।

अंत में, हमारा विनम्र निवेदन यही है कि घनानन्द की प्रेमिका, बावुजूद इसके कि उसके सम्बन्ध में कोई लिखित सनद अथवा आँखों देखा प्रमाण उपलब्ध नहीं है, एक वेश्या थी। वह मुसलमान ही थी और सुजान के नाम से प्रसिद्ध रही थी। यह कवि-कल्पना द्वारा खोजा गया कोई प्रतीक मात्र नहीं है बल्कि एक सशरीरी-संसारी स्त्री का नाम है। 'वह' और 'जान' शब्दों को मिला कर सुजान शब्द का निर्माण करने की बात सोचना बचकानी ही कही जायेगी। जो सर्वथा निराधार और निर्मूल है, और जिसकी किसी विद्वान् से आशा नहीं की जा सकती है।

सहायक पुस्तकें

१. घनानंद कवित्त—सं० प्रो० लक्ष्मणदत्त गौतम।
२. रसखान : काव्य तथा भक्ति भावना—डा० माजदा असद।
३. संस्कृति के चार अध्याय—डा० रामधारी सिंह 'दिनकर'।
४. मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियां—डा० सावित्री सिन्हा।
५. मजमउल अशआर—संपादक—अज्ञात।
६. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास—ले० तिलकराज शर्मा।
७. रसखान ग्रंथावलि—संपादक-प्रो० देशराज सिंह भाटी।
८. मसनवी मानवी (प्रथम भाग)।
९. दतिया दर्शन—सं०—हरिमोहनलाल श्रीवास्तव।
१०. तज़किरहतुल ख्वातीन—संपादक—मौलवी अब्दुल बारी 'आसी'।
११. 'सरस्वती' मासिक—हीरक जयन्ती अंक।
१२. 'सप्तसिंधु' मासिक—अंक फरवरी ७६ ई०।
१३. घनानंद और स्वच्छंद काव्य धारा—डा० मनोहरलाल गौड़।
१४. दीवाने ग़ालिब—प्र० स्टार पब्लिकेशंस।
१५. तज़किरह बहारे वे खिज़ां—संपादक अहमद हुसैन 'सहर'।

द्वारा—डा० आर० एल० नरूला
२ ई।८७, एन० आई० टी०
फ़रीदाबाद (हरियाणा)

⊙

घनानन्द के सुजान विषयक कुछ अप्राप्त छन्द

उदयशंकर दुबे

आठों याम 'मीत सुजान' की रट लगाने वाले घन आनन्द का साहित्य शृंगार रस में सराबोर है। घनानन्द के साहित्य में 'सुजान' शब्द का बार-बार, भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है। 'सुजान' शब्द घनआनन्द साहित्य का प्राण है। 'सुजान' शब्द के प्रयोग एवं अर्थ के विषय में विद्वानों में एकमति नहीं है। अधिकांश विद्वानों ने 'सुजान' का अर्थ घनआनन्द की प्रेयसी से लिया है[1] किंतु डा० मोहन अवस्थी ने इससे असहमति प्रकट की है।[2] परंपरागत जनश्रुतियों

---

१. द्रष्टव्य—घनानन्द और स्वच्छंद काव्यधारा, पृष्ठ ४०-५२, लेखक—डा० मनोहर लाल गौड़, ना० प्र० सभा, काशी तथा घनआनन्द—लेखक—डा० कृष्णचन्द्र वर्मा, पृ० ७१-७६, रवीन्द्र प्रकाशन, ग्वालियर : आगरा।

२. द्रष्टव्य—सम्मेलन पत्रिका, भाग ६२, संख्या २, चैत्र-ज्येष्ठ शक १८९८ में प्रकाशित डा० अवस्थी का 'क्या घनानन्द की प्रेयसी का नाम सुजान था ? शीर्षक लेख, पृ० ७४-७६।

तथा घनआनन्द द्वारा प्रस्तुत सुजान विषयक छन्दों के आधार पर विद्वानों ने 'सुजान' को घनआनन्द की प्रेयसी माना है जो तत्कालीन दिल्ली दरबार की अप्रतिम सुन्दरी वेश्या थी। सुजान के नाम पर घनानन्द द्वारा रचित 'सुजान हित' ग्रंथ हिंदी साहित्य और ब्रजभाषा की एक श्रेष्ठ कृति है। सुजान का जीवनवृत्त अज्ञात है। मंगलामुखियों का जीवन वृत्त न ज्ञात होना कोई बड़ी बात नहीं है। घन आनन्द साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने स्वसंपादित घनआनन्द ग्रंथावली में सुजान के विषय में विस्तार से चर्चा की है। घनआनन्द के कवित्त के प्रथम संग्रहकर्त्ता ब्रजनाथ गुसाँईं के वर्णन से भी ज्ञात होता है कि सुजान वेश्या थी, घनानन्द उस पर आसक्त थे। जब ब्रजनाथ गुसाँईं ने घनानन्द के कवित्तों का संकलन किया तो तत्कालीन मथुरा का गुसाँईं (गोस्वामी) समाज ने उन्हें अपने समाज से वहिष्कृत कर दिया।[१] एक वेश्या के प्रेमी का एवं उस वेश्या से संबंधित साहित्य-संकलन कार्य सामाजिक बन्धन की कठोरता के कारण उस समय अपराध माना गया तो यह आश्चर्य की बात नहीं है। यह लोक श्रुति भी सुजान का वेश्या होना सिद्ध करती है।

घन आनन्द कृत सुजान हित ग्रंथ में घनानन्द के सुजान विषयक छन्द मिलते हैं। ठीक सुजान हित के छंदों से मिलते-जुलते घनआनन्द के ५४ छंद और भी मिले हैं जिसमें कवि ने सुजान के हाव-भाव को अभिव्यक्त किया है। प्राप्त ये नवीन छंद आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित घन आनन्द ग्रंथावली में नहीं हैं।[२] ये प्राप्त नवीन छन्द राजकीय पुस्तकालय-दतिया (म० प्र०) में सुरक्षित एक हस्तलेख में हैं। इस हस्तलिखित प्रति का लिपिकाल संवत् १८४३ वि० है और प्रति दलीपनगर (दतिया) में ही तैयार की गई थी। प्रति का आकार १२.५+७.५ इंच है। इसमें घनानन्द के निम्नांकित ग्रंथ संकलित हैं—

१. सुजान हित	पूर्ण	लि० का० सं० १८४३
२. प्रेम पत्रिका	पूर्ण	अज्ञात

---

१. दतिया (म० प्र०) के निवासी वयोवृद्ध साहित्यकार श्री किशोरीशरण गोस्वामी ने उक्त ब्रजनाथ गुसाँईं से सम्बंधित बात अपने पिता जी से सुना था। उन्होंने ही चर्चा के दौरान यह बात मुझे बताई। श्री किशोरी शरण जी व्यासवंशीय गोस्वामी हैं। उन्हें घनानन्द के सैकड़ों छन्द कण्ठस्थ हैं। उनके संग्रह में ब्रजनाथ द्वारा संकलित घनआनन्द के कवित्त की एक संवत् १८५२ वि० की हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है। इस प्रति में कुल ५४७ छंद हैं। प्रारंभिक दो छंद घनानन्द के हैं उसके बाद प्रति में "ब्रजनाथ गुसाईं रचित कवि घन आनन्द कौ यश वरननं।" लिखकर घनानन्द से संबंधित ६ छंद हैं। दतिया (म० प्र०) कई लोगों के संग्रह में घनानन्द कृत ग्रंथों की हस्तलिखित कृतियाँ विद्यमान हैं। जिनमें से केशव किशोर तिवारी के संग्रह की एक प्रति सम्मेलन संग्रहालय में सुरक्षित है। इस प्रति में घनानन्द के ४८८ छंद संकलित हैं। प्रति अंत से खण्डित है—लेखक

२. द्रष्टव्य—घन आनन्द ग्रंथावली, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान, ब्रह्मनाल, वाराणसी प्रकाशन काल, सं० २००९।

३. सरस बसंत	पूर्ण	अज्ञात
४. प्रीति पावस	पूर्ण	अज्ञात
५. सुजान के दोहा	पूर्ण	अज्ञात

मात्र सुजान हित ग्रंथ के अंत में लिपिकाल सं० १८४३ वि० दिया हुआ है। शेष चार ग्रंथों में लिपिकाल नहीं है। पूरी प्रति की लिखावट, स्याही व कागज एक है। इससे ज्ञात होता है कि लिपिकार ने सभी ग्रंथों की प्रतिलिपि सं० १८४३ वि० में ही की। इस प्रति के अंत में ८ पृष्ठों में घनानन्द के सुजान विषयक ५४ छन्द हैं जिनमें ४१ दोहा और १३ सोरठा छंद है। अंतिम दोहा भक्तिपरक है—"मेरे जियु सुमिरन यही, निस दिन आठौ जांम। सदा चरन लागौ रहौ, सेवक आसा राम।।" 'सेवक आसाराम' शब्द विचारणीय है। कदाचित् घनआनन्द का असली नाम आशाराम ही न रहा हो। कुल ५४ छंदों में से ५२ छंदों में 'सुजान' नाम व्यवहृत हुआ है तथा दो छंदों (चौथे और पचीसवें) में 'घन आनंद' नाम आया है। इन प्राप्त नवीन छंदों से "घन आनन्द और सुजान" की समस्या कुछ अंशों में सुलझ सकती है।

प्राप्त छंदों का पाठ यहाँ प्रस्तुत है—

अथ सुजान के दोहा लिख्यते

उहि सुजांन सुसक्यांन सौं, नैना लयै लगाइ।
अब वासौं कोऊ अरे, मोहू देउ मिलाइ।।१।।

जौ सुजांन तैं आपनै, मन कौ मरमु न देतु।
तौ काहे नेही दिलनि, नाहक बैंचें लेतु।।२।।

तलब देखिबै की बनी, रहति सांझ अरु भोर।
रे सुजांन आवो चले, इनि नैननि की ओर।।३।।

घन आनंद भौ द्रगनि कौ, देखत मीत सुजांन।
मो वस रहे न तजि दई, सबै जगत की कांनि।।४।।

जिहि दिन मीत सुजांन कौ, पलकहुं देखतु नाहि।
को जानैं ये द्रगन दिन, कितै कितै चलि जांइ।।५।।

कंहि सुजांन मुख चंद वह, देइ दिखाई जौंन।
तौ आनंद इनि द्रगनि कौ, कहौ होइ विधि कौंन।।६।।

आमद मीत सुजांन की, वेगि सुनावहु आइ।
ता मग मैं द्रग आपनै, अगमन दैउ विछाइ।।७।।

चितवत इत उत चटक सौं, चलौ गली मैं जाइ।
उंहि सुजांन की अटपटी, चालि उरवसी आइ।।८।।

सपनेहूं नहि मिलतु छिन, रै सुजांन करि सैंन।
तब विसवासु बढ़ाइ कैं, अब लागे दुख दैंन।।९।।

ध्यांन धरै नहि थिरु रहैं, मनु फिरि-फिरि उत जाइ।
तैं सुजांन बस करि लयौ, पुछवि सुखद दरसाइ ॥१०॥
कासौं कहौं पुकारि कैं, सुनिहो मीत सुजांन।
पलकु लखे बिन कलप सम, बीततु है दिन मांन ॥११॥
काहू प्यारो धनु लगे, काहू प्यारे प्रान।
मेरे प्रांन अधार इक, तू है मीत सुजांन ॥१२॥
रौम रौम मैं हो रही, विरह विथा भरि पूरि।
रे सुजांन तेरौ दरसु, भयौ सजीवन मूरि ॥१३॥
तुव सुजांन मुख चंद लखि, चंद भयौ आधींन।
तोहि करौ निकलंक विधि, उहि कलंक करि दींन ॥१४॥
विरहा सौं करि वैरु मन, कहौ बचै कहं जाइ।
उहि सुजांन के द्रग सुभट, जौ नहि करैं सहाइ ॥१५॥
आंनन आनन लखत हौं, यही करी है आन।
इक सुजांन मुख के भये, ये द्रग बंदी वांन ॥१६॥
रे सुजान महबूब तैं, दरस वेगि दै आइ।
तुव देखन कौ द्रगनि कौ, दिन दिन बाढौ चाइ ॥१७॥
इहि तन लोह निकाम कौ, धन कीमति बढ़ि जाइ।
पारस मीत सुजांन कह, हसि उर लागै आइ ॥१८॥
तूं सुजांन जद्दपि वसतु, सदा द्रगनि ही माहि।
हसि बोलनि लपटांन वह, उर तैं निकसति नाहि ॥१९॥
इहि ग्रीषम की दुपहरी, रे सुजान कित जाइ।
द्रग खत खांननि मैं अरै, क्यों नहिं विलमतु आइ ॥२०॥
मोर सोर घंनघोर सुनि, किहि विधि राखौ प्रान।
मेरे प्रांन अधार है, तू ही मीत सुजांन ॥२१॥
नेही दिल कौं हनत ये, नैकु न मानत वाज।
हैं सुजांन खूनी बड़े, तेरे द्रग गजराज ॥२२॥
हैं महबूब सुजांन के, अतिही सुघर सुरंग।
पलकनि पलकु न थिर रहैं, चंचल नैन सुरंग ॥२३॥
मुख महबूब सुजांन तुव, लखत होत सब काज।
मन पंछी कौ लेत गहि, ये तेरे द्रग वाज ॥२४॥
तुम सुजांन जुग जुग जियौ, कियौ करौ सुख साज।
वरकरार भुव पै अटल, घन आनंद सिर ताज ॥२५॥
रे सुजांन या बात की, है परतीति न तोहि।
ज्यों चाहे त्यौं छांनि लै, झीनैं पट मैं मोहि ॥२६॥

कमल कली गहि कर कमल, फेरतु मीतु सुजान।
ता फेरन मै जा फंसे, नाहक मेरे प्रान ॥२७॥
इतनी वेदरदी करी तुम, सुजान जिय माहि।
कितहूं हौ कैं आइ अब, देउ दिखाई नाहि ॥२८॥
कासौं कहौं पुकारि कै, कहा परी है भीर।
कही अनकही है भली, अपने दिल की पीर ॥२९॥
विरही जन पै मैंन नृप, जव तैं बांधी फेंट।
तबतैं मीत सुजान सौ, भई अचानक भेंट ॥३०॥
मन पण्डित कौं पूछि हिय, द्रग नितही करि जोरि।
उहि सुजान कौ दरसु मुहि, सांझ मिलै कै भोर ॥३१॥
तुहि न व्यापतौ विरह जै, रहतौ भयौ अजान।
परौ आइ अब जांनिबौ, तेरे गरैं सुजान ॥३२॥
वह मुसक्यांन सुजान की, नैकु न विसरति मोहि।
ज्यों ज्यों विसराअैं चहौ, त्यों त्यों दूनी होइ ॥३३॥
मलिन वसन अति छीन तन, इहि विधि लखै सुजांन।
विछुरन कौ दुःख मीत तैं, तुरत लयौ पहिचांन ॥३४॥
इक टक नित देखत रहौं, पल पल वारौं प्रान।
धन्य घरी वह कौन जब, लखिहौं मीत सुजांन ॥३५॥
मिलत वनै न सुजांन सौ, विछुरौ पलकु न जाइ।
आनंद अब रहिवौ भयौ, कठिन दुहूँ विधि आइ ॥३६॥
आछै कठिन सुजान तुम, आपु गरज के यार।
अब हमतैं विछुरन कहत, कहौं कौन यह प्यार ॥३७॥
कहौं कौन विधि रहि सकैं, इहि तंन में ये प्रान।
हमै छाँड़ि चाहब चलौ, तूं वेदरद सुजांन ॥३८॥
सरद चांदनी मैं कहूँ, जौ तुहि मिलै सुजांन।
घन आनंद हिय मैं बढै, पल पल बारौ प्रांन ॥३९॥
अवधि आस दै राखिहौ, इहि तन मैं ये प्रांन।
अवधि वदी भूलै नहीं, तौकौ मीत सुजांन ॥४०॥
रे सुजान यह जान दै, अब तेरे आधींन।
कित देखै तलफन लगे, ज्यों जल विछुरै मीन ॥४१॥

सोरठा

विन सुजान ये प्रांन, इहि तन मै ये रहत है।
उदौ होतु जिमि भान, ससि सोभा फीकी परै ॥४२॥
जित चित चाहौ तित करौ, प्रीतम हित विस्तार।
दुहूँ वोर तन टूटि है, झीनें हित कौ तार ॥४३॥

तेरे मन कौ कपट अब, कैसे जाइ सुजांन।
मैं तो पर वारतु फिरौं, पल पल ऊपर प्रांन ॥४४॥
हम सुजांन जानी हती, नेह करैं सुख होइ।
विन देखैं तेरे विरह, दैन लगौ दुःख मोहि ॥४५॥
सोवत चोरी होतिती, यह सुनियतु तौ कांन।
चित चोरी लागौ करन, जागत मीत सुजांन ॥४६॥
तुम सुजान अलगरज हो, गरज बड़ी है मोहि।
दरस देत इनि द्रगनि कौ, खरचु लगै कहं तोहि ॥४७॥
यह सुजान तुमनै कछू, लई अनौखी बान।
द्रग कोरनि सों सहज मैं, खैंचि लेत हौ प्रान ॥४८॥
सोवत जागत रैनि दिन, देखहु मीत सुजांन।
छवि मतवारे द्रग छके, सूझत आंन न आंन ॥४९॥

सोरठा

सूझत आंन न आंन, है सुजान तुव दरस तें।
परी द्रगनि यह वांनि, विसरौंऐ बिसरै नहीं ॥५०॥
जब लगि द्रग देखत रहैं, तोकौं मीत सुजांन।
तब लगि आनंद सौ रहे, इहि तन में ये प्रान ॥५१॥
ये जू अब नाहीं कहत, सिथिल अंग अलसाइ।
बोलनि यहै सुजान की, हियरा खटकति आइ ॥५२॥
घन गरजतु लरजतु हियौ, टक सुजांन इति आइ।
प्रांन पपीहन कौ अरे, छवि रस आंनि पिवाइ ॥५३॥
मेरे जियु सुमिरन यही, निसदिन आठौ जांम।
सदा चरन लागौ रहौ, सेवक आसा राम ॥५४॥

॥इति सुजान के दोहा संपूरन॥

हिन्दी संग्रहालय
हिन्दी साहित्य सम्मेलन,
प्रयाग

पुस्तक-परिचय

ठाणं (स्थान) रचयिता—सुधर्मा स्वामी, वाचना : प्रमुख—आचार्य तुलसी, सम्पादक-विवेचक/मुनि नथमल, प्रकाशक—जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राजस्थान), पृष्ठ १०९०, मूल्य—१२५ रु०।

प्रस्तुत विशालकाय ग्रन्थ जैन-आगम की महत्त्वपूर्ण रचना है। सामान्यतया जैन आगम चार वर्गों में विभक्त है—१. अंग, २. उपांग, ३. मूल, और ४. छेद। इनमें अंग के बारह भेद हैं—१. आचार, २. सूत्रकृत् ३. स्थान (ठाण), ४. समवाय, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६. ज्ञाता-धर्मकथा, ७. उपासकदशा, ८. अन्तकृतदशा, ९. अनुत्तरोपपातिकदशा, १०. प्रश्नव्याकरणदशा, ११. विपाकश्रुत, १२. दृष्टिवाद।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि ठाणं (स्थान) जैन-आगम के प्रथम वर्ग का तीसरा भेद है। इसमें एक स्थान से लेकर दस स्थान तक जीव और पुद्गल के विविध भाव वर्णित हैं। इसीलिए इसका नाम 'स्थान' रखा गया है। इसका मूल पाठ प्राकृत भाषा में रचित है, जो संस्कृत छायानुवाद, प्राञ्जल हिन्दी अनुवाद और विस्तृत टिप्पणी से अलंकृत होकर इस महाग्रन्थ के रूप में शोभित हो रहा है।

इस ग्रन्थरत्न में बहुत-सी बातें सार्वभौम सत्य हैं, जो इसके अध्येता मानवमात्र के लिए कल्याणकारक हैं। किन्तु कुछ बातें सम्प्रदायान्तर के विरुद्ध पड़ती हैं। इसलिए सर्व-धर्मसमन्वय की दृष्टि से हमारा विनम्र सुझाव है कि प्रत्येक सम्प्रदाय के ग्रन्थों में ऐसी बातों को, जो दूसरे सम्प्रदाय के लिए आक्षेपमूलक हो जाती हैं, प्रकाश्यमान ग्रन्थों में स्थान नहीं देना चाहिए।

प्रकृत पुस्तक की छपाई-सफाई, जिल्द आदि सभी आकर्षक हैं। पुस्तक सर्वथा उपादेय और संग्रहणीय है। ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन के लिए जैनविश्वभारती धन्यवादार्ह है।

—तारिणीश झा

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

•

गंगाश्रम—श्री रामजीदास कपूर : प्रकाशक—ज्ञान-ध्यान प्रकाशन, लालबाग, सीतापुर : मूल्य—अठारह रुपए मात्र।

श्री रामजीदास कपूर द्वारा विरचित काव्यकृति 'गंगाश्रम' को मैंने एक-रूप आद्योपान्त देखा। एक लम्बी अवधि के पश्चात् इतनी पुष्ट, प्रौढ़ तथा प्रभावशाली रचना दृष्टिगोचर हुई और मेरी मनोमयी रसा पर प्रतिष्ठित हो गयी। कपूर का अर्थ जल से आपूर्ण भी हो सकता है, फिर कविवर कपूर 'पुण्य सलिल' के उद्गम, गति एवं लय के विविध चित्रों की रमणीयता

को यदि अपनी ऊहा का आलम्बन बना सके तो किमत्रविचित्रम्। श्री कपूर जी के काव्य के बहुरंगी आयाम एवं उत्तुंगता देखकर मेरी मति चकित तथा विथकित है। इस कृति में ब्रजभाषा की माधुरी, अवधी की करुणा, उर्दू की धार, खड़ीबोली के तार में आबद्ध हुई है। घटनाओं का मेला लगाकर महाकाव्य के प्रणयन की परम्परा तो पुराकाल से प्रसिद्ध रही है, किन्तु काव्य के अभाव में अकथ्य प्रभाव की सृष्टि कर देना नितान्त दुष्कर होता है। इस कठिनाई की प्रतीति उन्हीं भाग्यशालियों को हो सकती है जिन्होंने काव्यरचना के पथ पर एक-बार भी पद-निक्षेप किया है। श्री कपूर ने अपनी इस कृति में पुरुषार्थ के अनेक विग्रह स्थापित किए तथा कल्पना के पुण्य-संकल्पों से उनमें प्राण प्रतिष्ठा की है। जाह्नवी एक साथ मानव-जीवन के विपुल प्रतीकों का आधार बन सकती है। हिमाद्रि की ऊँचाइयों को धरातल पर उतार लाने वाली, नगराज की जड़ता को पानी पानी कर बहाने वाली, जल-प्रवाह द्वारा जीवन की अबाध गति का बोध कराने वाली, जल से रसमयता का द्योतन कराने वाली, अपनी गहराइयों में गंभीरता का विन्यास लिए सिकता द्वारा जीवन की रुक्षता का परिचय देने वाली परन्तु अपने अम्बु से उसे अभिसिंचित करती हुई अरसग्राही सैकत कणों को किनारे फेंकती हुई, जल की शुभ्रता में जीवन की दीप्ति का आशय बताती, समुद्र संगम में अनन्त समाधि का उपदेश करती, भगीरथ के अव्याहत अध्यवसाय का समग्र चित्र खींचती, धरती को विनम्र बनाकर उर्वरा करती हुई गंगा कपूर के शुभ्र काव्यसौरभ से क्यों न सुवासित होती। कृति का नाम 'गंगाश्रम' कवि ने जान-बूझकर रखा है। गंगा का आश्रम अर्थात् जहाँ-जहाँ गंगा का प्रवाह अथवा निवास है, आश्रम का अर्थ महात्माओं की साधना-स्थली तथा गुफा भी होता है। आ का अर्थ चारों ओर से तथा पर्यन्त भी होता है। सम्यक् श्रम को भी आश्रम कह सकते हैं। गंगा का ब्रह्मा के कमंडलु से लेकर मर्त्यलोक की सम्पूर्ण यात्रा और समुद्र लय तक का श्रम भी यहाँ प्रयोज्य हो सकता है—भगीरथ का कठोर श्रम भी अभीष्ट हो सकता है। गंगा जिन-जिन स्थानों को पुण्य करती हुई प्रवाहित हुई, उससे भी प्रयोजन सिद्ध होता है। सम्पूर्ण कृति में प्राचीन काव्य-साधना को युग संगत बनाने का कवि ने सफल प्रयास किया है। देवलोक से मानवलोक तक की गंगा-यात्रा का वर्णन करके मानों कवि ने प्रकारान्तर से देवत्व की मानवत्व में परिणति करनी चाही है। बत्तीस-खंडों में विभक्त यह काव्य, मेरी दृष्टि में एक सफल महाकाव्य ही है जिसमें घनाक्षरी की अटपट थापों पर कल्पना खड़ीबोली के परिधान में अलंकारों से सुसज्जित तालबद्ध नृत्यरत है। काव्य का प्रथम छन्द ही निदर्शनार्थ ले लें—

प्रज्ञा के सदन एक रदन कपूर-वर्ण,
भाव भरी भारती जहाँ है आन हारती।
घेरती सदैव ऋद्धि, सिद्धि करती है सिद्ध,
कमला सहित पति आँचल पसारती॥
आती जगती-सी जगती पै महिमा की ज्योति,
देख के शची भी जिसे वैभव विसारती।
चरण पखार गंग संग में उमंग भर,
सती शर्व-त्नी है सदा आरती उतारती॥

इस एक ही छन्द में अनुप्रास के विविध रूपों, श्लेष, उपमा, उल्लेख, व्यतिरेक की अलंकार छटा में नाद-सौंदर्य की अपूर्व झाँकी झलमला उठती है। सदन एक रदन, भाव भरी भारती, जगती सी जगती पै, गंग संग में उमंग, सती शर्व-ती, आरती उतारती जैसे ध्वनि-साम्य प्रकृष्ट शब्दनिचय में वर्ण्य-विषय की सफल अवतारणा शब्द-शब्द की अखंडित अर्थवत्ता के साथ हुई है। काव्य के प्रथम छन्द की प्रथम पंक्ति में कवि के कपूर उपनाम की घोषणा श्लिष्ट पदव्यंजनापूर्वक हुई है। विधाता के कमंडल से निकलकर शंकर की जटाओं को भी खोल वहाँ से बलात् धरती पर अवतरित होने का सांगोपांग चित्रण मात्र दो छन्दों में अतिशय चित्रोपम हो गया है—

विधि का कमंडल उलट महिमंडल पै, वायु को विदार निराधार डोलती हुई।
क्रूर कालराज के कराल काल पाश काट, नरक-निकेतन अधर तोलती हुई॥
भूपति भगीरथ के भाग्य की शलाका बन, सुयश पयस्विनी सनाद बोलती हुई।
शेष के कलेवर-सी काटती हिमालय को, व्योमकेश-जूट को सुखेन खोलती हुई॥

हम इस छन्द की शब्दावली पर मुग्ध हों कि नाद सुषमा पर या छन्दोविधान पर अथवा दुर्लभ किन्तु सार्थक शब्द प्रयोग पर, अथवा वर्ण्य-विषय पर अथवा सब पर, क्योंकि प्रत्येक एक-दूसरे की श्रेष्ठता को स्वीकार करता है। व्योमकेश का अर्थ शंकर कितना मूल्यवान् दुर्लभ शब्द है। कपूर जी की इस काव्यकृति में ऐसे असंख्य तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो सामान्य जनों को भले ही क्लिष्ट प्रतीत हो, किन्तु उन शब्दों में जो प्राणतत्त्व है, आत्मा है, वह उनके बाज़ारू पर्यायों में सर्वथा अनुपस्थित है। इसी तारतम्य का दूसरा छन्द अवलोकिए—

आई वारिराशि धरती पे धरती-सी पग, हिम के किरीट को उतार धरती हुई।
हँस-हँस देती राजहंस हंसवाहिनी को, हार हीरकों के रोदसी में भरती हुई॥
किन्नरी नरी से भरी ललित हरीतिमा की, सुषमादरी में सुरभी-सी चरती हुई।
लहर लहर कुसुमायुध जिलाती चली, चन्दन कपूर मद चूर करती हुई॥

उपर्युक्त दोनों छन्दों की गरिमा के बहुविध पटल यदि सुधी पाठक के चित्त में प्रतिबिम्बित हो जायँ तो स्थालीपुलाक-न्याय से समूची काव्यकृति की विशेषताओं का उद्घाटन दो ही छन्दों में हो सकता है।

अपह्नुति अलंकार का इस छन्द में आद्योपान्त शास्त्रीय निर्वाह द्रष्टव्य है—

कुहू कुहू बोलती न कोकिला कुहू का तम, रिंगण नहीं हैं राख–वह्नि की उड़ान है।
शृंखला शृगालों की न शृंखला पराभव की, क्रोश है न कौशिक का कौंधती कमान है॥
घूमती शिवाएँ नहीं तोपों के धुवें की घूम, चरमावरण है न गंग विद्यमान है।
वीरों के कबन्ध हैं न टूटी मुण्डमालिका है, बक्सर में लश्कर का प्रधन-मसान है॥

गंगाश्रम कृति का अध्ययन काव्यसौन्दर्य के कई कोणों से किया जा सकता है—छन्द, अलंकार, शब्द-सौष्ठव, शब्द-शक्ति, रसनीयता, भाषा एवं अभिव्यक्ति इत्यादि। इतना ही नहीं, कृति

के अनेक स्थल कवि के व्यापक शास्त्रीय तथा पौराणिक ज्ञान के साक्षी बन गए हैं। आस्तिक-नास्तिक भारतीय दर्शनों की प्रतिच्छवियाँ कवि ने पास से निरखी-परखी हैं। गंगा के प्रत्येक आश्रम के वातावरण को कवि ने सम्पूर्ण निष्ठा के साथ सम्पादित किया है। इस प्रकार धारा के लगभग सभी रूप-उन्मेष, उद्वेलन, प्रवहन, प्रधावन, कल्लोलन, विलोलन, दमन, शमन, उच्छलन, अवरोहण, सर्पण, उद्गमन, जिह्मण आदि पाठक के समक्ष सुविधा से उपस्थित हो जाते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि यह कृति संस्कृत के दुर्लभ शब्दों का महाकोश ही है। चैत्ररथ, नन्दन, प्रमथ, शातकुम्भ, कृशानुरेत, व्योमकेश, शर्वती, शिखण्ड, त्रपा, शतक्रतु, पञ्चशिखि, चित्रभानु, रोदसी, ऋत्विज, आशीविष, देवसेना इत्यादि शब्द ऐसे हैं जो शुद्ध सुन्दर होकर भी आज के अबोध हिन्दी ज्ञानियों के अज्ञान का प्रमाण बन गए हैं। बेचारे इन ज्ञानियों के पास एक ही उत्तर रह जाता है—'भाषा वही है जो सब की समझ में आवे। हमें ऐसे दुरूह शब्दों से क्या प्रयोजन !' इस वाक्य को आगे इतना जोड़ कर बढ़ा दिया जाय 'जिनका अर्थ हम स्वयं नहीं जानते' तो शब्द रंक विद्यावारिधि जनों के साहित्यिक दारिद्र्य का समृद्ध आख्यान हो जाय। किन्तु शब्द इन्द्रजाली श्री कपूर के शब्द-शिल्प, शब्द-साधना एवं शब्द-रसायन पर हम आन्तरिक बधाई देते हैं। काव्य का विषय-पक्ष और वर्णन-पक्ष दोनों ही पुण्य धवल हैं, ठीक कपूर की भाँति। और श्री कपूर की यह व्यंजना आत्मपरक न होकर भी आत्म-परक है, विनम्र होते हुए भी दृप्त है—

तारकों के अक्षत, सुमन, सुरभी का पय, व्योम है सजा रहा समोद चन्द्र-थाली में।
आरती कपूर की उतारती है भारती भी, आ रही चमक सी फणीन्द्र की फणाली में।।

अक्षर के अनन्य आराधक कवि कपूर की भला भारती कपूर से क्यों न आरती उतारे? मुहाविरे अभिव्यक्ति का प्राण तथा कविता का त्राण होते हैं—मुहाविरों के प्रयोग में उर्दू के शायर ज़ौक़ और उनके शिष्य बहादुर शाह ज़फर को सर्वाधिक श्रेय दिया जाता है—हिन्दी में हरिऔध तथा गुरुभक्त सिंह 'भक्त' को यह गौरव प्राप्त है। संस्कृतनिष्ठ अभिव्यक्ति में मुहाविरों का प्रयोग सहज साध्य नहीं किन्तु श्री कपूर ने यह कार्य भी सफलतापूर्वक किया। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

सप्त ऋषियों को सप्तधारा से नमन कर, एक ही अनेक भासता सा सूत्र ज्ञानी का।
हो गया अनेक एकरूप नीलधार बन, पानी आइना है तत्व अवढरदानी का।।
कहते यती हैं सती-तेवर का पानी देख, पानी लिखता है लेख अमर कहानी का।
पानी बढ़ने से दक्ष-यज्ञ पानी-पानी कर, पानीदार पानी चढ़ा शन्तनु की रानी का।।

यहाँ पानी का प्रयोग कवि की प्रतिभा के पानी का प्रतीक बन गया है। कालक्रम-खंड में कवि ने दो छन्दों में एक से लेकर इक्कीस तक की गणना में सभी ऐसी विभूतियों का वर्णन गंगा के संदर्भ में किया है जो अपनी संख्या से ही अपना बोध करा लेती हैं। उदाहरणार्थ एक पंक्ति ले लें—

'एकलिंग शीश पर साधती हैं दोनों लोक, तीन पथ गामिनी हैं चार फल दायिनी।'

'रूपबोध' खंड में कवि ने एकावली अलंकार का अभिनव प्रयोग किया है। एकावली अलंकार का लक्षण, साहित्यदर्पणाकार ने दिया है—

"पूर्वं पूर्वं प्रतिविशेषणत्वेन परं परम्।"

अर्थात् पूर्व-पूर्व वर्णित के विशेषणत्व से उत्तरोत्तर वर्ण्य-वस्तु की स्थापना। श्री कपूर जी लिखते हैं—

कैसी जाह्नवी के अंग अंग अंगड़ाई लसी, जैसे दुग्ध-सारावली उष्ण हो उबलती।
कैसा दुग्धसार-का है प्रथम उबाल तीव्र, जैसे वह्नि मध्य हो रजत राशि पलती॥
कैसी हो रजत राशि पलती हुताशन में, जैसे कामधेनु कहीं फेन हो उगलती।
कैसे कामधेनु-फेन होता है प्रवहमान, जैसे रेणु रश्मि ऊर्मि-वारि में मचलती॥

यहाँ विद्वान् सार अलंकार की प्रतीति कर सकते हैं किन्तु एकावली मानना ही संगत है। यहाँ एकावली के साथ ही प्रतिवस्तूपमा भी समाविष्ट है—एक वाक्य में उपमेय, दूसरे में उपमान। गंगाश्रम में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ शास्त्रानुमोदित ध्वनिप्रसूत अलंकार एवं रस की व्यंजना हुई है। वर्णनों में परिवेश तथा वातावरण के वर्णनों में कवि ने पूरी तन्मयता बरती है। गंगा आकाश से सवेग अवतरित होती है। यहाँ वर्णन की सजीवता ध्यान देने योग्य है—

भौम को विलोम मन्द गति का बनाती मन्द, रुण्डहीन राहु मुण्ड पीन नोचने लगी।
छीन सुधबुध से विपथ दिनराज कर, शुक्र ओज अम्वक कपूर कोचने लगी॥
केतु कौतुकी का केतु कुयश कलुष कील, सुर गुरुराज की त्वचा को रोचने लगी।
चन्द्र को पलायमान जान चन्द्र मौलि पर, गंगधार केसरी जटा दबोचने लगी॥

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि श्री कपूर की गंगाश्रम कृति में उनके व्यापक अध्ययन का संभार, शास्त्रीयता एवं वैदग्ध्य के शक्तिशाली उन्मेष, शब्द-मैत्रीजन्य उत्कर्ष, प्रतीयमान की भव्य प्रतिष्ठा, अभिव्यक्ति की अनुरंजक प्रभविष्णुता तथा विशिष्ट का निर्विशिष्ट साधारणीकरण, गंगा की जीवन-यात्रा की सरस मनोहर कथा, प्रकृति के उद्दाम आकर्षणों का शब्द-निवन्धन, गंगा जैसी पूतवाहिनी पद्मिनी का पावन आख्यान, पुण्य प्रतिरोधी मलिनाइयों का धवलीकरण, एकसाथ इस सर्गानुबन्धित महाकाव्य गंगाश्रम में अप्रतिहत भाव से अभिनिविष्ट हुए हैं। कवि को मेरी बारम्बार बधाई और साधुवाद।

कविवर पद्माकर, भारतेन्दु, रत्नाकर आदि ने भी गंगा का मोहक चित्रण किया है। मेरे पूज्य मित्र स्व० पं० विष्णुदत्त जी शुक्ल ने १५ वर्ष पूर्व संस्कृत में एक काव्य 'गंगा सागरीयम्' अभिधान से लिखा था। संस्कृत के उद्भट कवि पंडितराज जगन्नाथ ने भी गंगालहरी नाम से शिखरणी छन्द में मनोहर संस्कृत काव्य लिखा था, किन्तु कपूर की सुवास गंगाजल से मिल कर जैसी रमणीय, तृप्ति विधायिनी तथा अनवद्यतः पावन बन गयी है, वैसी अन्य गंगा-काव्यों में नहीं मिलती—अन्य कृतियाँ अपनी-अपनी अन्य किन्हीं विशेषताओं के कारण महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं, परन्तु गंगाश्रम-काव्य तो मानवी श्रमसाधना एवं उज्ज्वल भावों का सजीव विग्रह

बन गया है। गंगा के अवरोहण में मानव का उदात्त आरोहण तथा गंगा के अवतरण में मनुज द्वारा भवाब्धि के संतरण का दिव्य चित्र अंकित किया गया है। गंगा को कवि ने नदीश्वरी कह कर यही ध्वनित किया है कि पाप-प्रक्षालन की अद्भुत शक्ति गंगा में ही है, अन्य सरिताओं में नहीं। निम्नांकित अनुष्टुप भी यही प्रमाणित करता है—

दृष्ट्वा जन्म शतं पापं, स्नात्वा जन्म शतद्वयम्।
पीत्वा जन्मसहस्राणि, हन्ति गंगा कलौयुगे॥

गंगा का दर्शन सौ जन्मों के, स्नान दो सौ जन्मों के, पान सहस्रों वर्षों के पाप विनष्ट करता है। कलियुग में गंगा का यह प्रताप है।

श्री कपूर द्वारा निर्मित 'गंगाश्रम' अपने पुण्य-काव्य-निर्झर से कोटि-कोटि सहृदय जनों की तृषा शान्त करेगा तथा हृदय मोक्षकामियों को रसाप्लावित समाधि में निरन्तर लय करता चलेगा, यह मेरा विश्वास है।

गौर है कपूर भरपूर गौर गंगाजल, योग्य से हुई है योग्य की ललाम योजना।
इधर सुवासपूर मंजुल कपूर और, गंगाजल गंधपूर्ण देवदारु से बना।
घनसार, तापहर शीतल उधर गंगा, ताप शाप हारी सुप्रभाव है घना घना।
गंगा गंगाश्रम कपूर प्रतिभा की दिव्य, धवल प्रभा की करूँ बार बार वन्दना।

—डॉ० ब्रजलाल वर्मा
सदस्य लोकसेवा आयोग, उ० प्र०
इलाहाबाद

●

चूरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास : लेखक—गोविन्द अग्रवाल, प्रकाशक—सुबोधकुमार अग्रवाल, मंत्री-लोकसंस्कृति शोधसंस्थान-नगर चूरू, राजस्थान, सन् १९७४ ई०, मूल्य पचास रुपये।

राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों-प्राचीन राजकीय ग्रंथागारों, मठों-मन्दिरों, तथा व्यक्तिगत संग्रहों में आज भी दुर्लभ ऐतिहासिक एवं साहित्यिक सामग्री वेष्ठनों में बँधी पड़ी हैं। श्रमसाध्य और व्ययसाध्य होने के कारण इस 'बँधी सामग्री' का उपयोग अभी तक नहीं हो सका है। श्री गोविन्द अग्रवाल ने अथक श्रम करके पहली बार 'चुरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास' प्रस्तुत कर जहाँ नष्टप्राय ऐतिहासिक संपदा को प्रकाश में लाया है, वहीं उन्होंने इतिहास-लेखकों को इतिहास लिखने की नवीन प्रेरणा भी दी है। अभी तक इतिहास-रचना के क्षेत्र में लोकभाषा में पाए जाने वाले विविध प्रकार के लोक प्रमाणों को उपेक्षित कर दिया गया था। श्री अग्रवाल ने अपने ग्रंथ में लोकभाषा में उपलब्ध लोकप्रमाणों को प्रस्तुत कर इतिहास-लेखन को नई दिशा दी है।

आलोच्य-ग्रंथ में चूरू मण्डल (भूतपूर्व बीकानेर राज्य का एक अंग) के संपूर्ण इतिहास का एकत्र वर्णन है। राजनीतिक इतिहास के साथ-साथ मण्डल के सांस्कृतिक, साहित्यिक, धार्मिक और आर्थिक इतिहास को विशद रूप में उजागर किया गया है। चूरू मण्डल का प्रागैतिहासिक-काल से लेकर आधुनिक-काल तक का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करने में लेखक ने समस्त प्रकाशित तथा अप्रकाशित आधार सामग्री का विवेकपूर्वक उपयोग कर इतिहासकार के उत्तरदायित्व को सही माने में निभाया है।

राजकीय संरक्षण में लिखे-लिखाये गए इतिहास का ही अब तक हम अध्ययन करते रहे हैं जिससे इतिहास के जनवादी स्वरूप का ज्ञान कर पाना कठिन ही नहीं, असम्भव रहा है। राजकीय संरक्षण से परे रह कर गोविन्द अग्रवाल ने स्वतंत्रचेता के रूप में चूरू मण्डल का इतिहास लिखने का साहसिक कार्य किया है। यही कारण है कि लेखक चूरू मण्डल के इतिहास के जनवादी स्वरूप को मुखरित करने में सफल हो सका है। आलोच्य-ग्रंथ इस बात का प्रमाण है कि आज केवल चूरू मण्डल या राजस्थान का ही नहीं, अपितु संपूर्ण भारत का इतिहास सरकारेतर ढंग से लिखने की आवश्यकता है।

ग्रंथ २१ अध्यायों में विभक्त है। पाद-टिप्पणियों और अध्यायोत्तर दिए गए परिशिष्टों के द्वारा प्रस्तुत की गई विशिष्ट-सामग्री के कारण ग्रंथ न केवल इतिहासकारों, अपितु प्राचीन साहित्य के अध्येताओं और अनुसंधित्सुओं के लिए विशेष उपयोगी है। इतिहास में शोध तथा अध्ययन को नई दिशा देने के लिए हम लेखक को बधाई देते हैं।

ऐसे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथ के अंत में दो पृष्ठों के विज्ञापन का औचित्य समझ में नहीं आता। ग्रंथ मुद्रण की त्रुटियों से रहित है जो इतिहास-ग्रंथ के लिए आवश्यक है।

—उदयशंकर दुबे
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

●

१. कांचन सीता—मूललेखक—सी० यन० श्री कण्ठन् नायर; २. प्रतिध्वनि—मूललेखक—टी० यन० गोपीनाथन् ३. परीक्षा—मूललेखक—टी० यन० गोपीनाथन्। रूपान्तरकार—सुधांशु चतुर्वेदी, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य भंडार, ५५ चौपटियाँ रोड, सरायमाली खाँ, लखनऊ। प्रत्येक का मूल्य डेढ़ रुपये।

मूल-लेखक मलयालम भाषा के सुविख्यात साहित्यकार हैं। इन विद्वानों ने उपन्यास, कहानी एवं नाटकों की रचना द्वारा मलयालम साहित्य-सरस्वती की महती सेवा की है।

श्री कण्ठन् नायर ने कई नाटकों की रचना की है जिनमें 'कांचन सीता' प्रमुख है। इसका कई बार सफलतापूर्वक अभिनय किया गया है। नाटककार स्वयं रंगमंच के गुणों से परिचित एक अच्छे अभिनेता हैं। कांचन सीता सुप्रसिद्ध समस्या-नाटक है जो चार अंकों में विभक्त है। नाटक का वार्त्तालाप संक्षिप्त एवं प्रभावोत्पादक है। इन नाटकों की लोकप्रियता को दृष्टि में रखते हुए 'मलयालम साहित्य माला' के अन्तर्गत इनका प्रकाशन किया गया है।

'परीक्षा' नामक नाटक में एक ऐसे प्रधानाध्यापक की कहानी है, जिसकी अन्तरात्मा उसे किसी भी प्रलोभन या किसी भी भय से आदर्श का परित्याग करने से रोकती है। मानवता के नाते अपने एक बाल-सहचर के पुत्र को अपनी ही कला से अनुत्तीर्ण करने का दुःख तो उसे इतना है कि स्वयं रात भर सो नहीं पाता है, फिर भी अपनी सिद्धान्त-प्रियता के कारण उसके साथ कुछ अंकों की रियायत करने में वह अंत तक अपने को असमर्थ पाता है। अन्त में उस न्यायप्रिय प्रधानाध्यापक के सामने सबको झुकना पड़ता है। ऐसा है रोचक कथानक। कथा

संगठन, संवाद-योजना एवं चरित्र-चित्रण आदि की दृष्टियों से पाँच दृश्यों का यह एक सफल नाटक है।

अनुवादक ने सरल हिन्दी भाषा का प्रयोग किया है। हमारा ऐसा विश्वास है कि इन नाटकों के अभिनय से भावनात्मक एकता का विकास होगा।

जय कृष्णा, जय कन्याकुमारी—लेखक—तेजनारायण टण्डन, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य भण्डार—मूल्य पाँच रुपए।

श्री तेजनारायण टण्डन हिन्दी पुस्तकों के पुराने प्रकाशक हैं। इन्होंने इसके संबंध में लगभग ३० बार दक्षिण भारत की यात्रा की है। प्रस्तुत पुस्तक उनकी यात्राओं का रोचक संस्मरण-संकलन है।

आज भी दक्षिण की यात्रा करने वालों के लिए पुस्तक मार्ग निर्देशक का कार्य कर सकती है। लेखक ने वहाँ के दर्शनीय स्थानों के अतिरिक्त हिन्दी संस्थाओं, प्रकाशकों तथा हिन्दी-प्रेमियों का पूर्ण परिचय दिया है। टण्डन जी ने अपने मिलने वालों का कहीं-कहीं अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। इन्होंने दक्षिण के सभी प्रमुख स्थानों की यात्रा करके विस्तार के साथ उसका वर्णन किया है। हैदराबाद, विजयवाड़ा, गुण्टूर, मद्रास, तिरुपति बाला जी, मैसूर, बंगलौर, रामेश्वरम्-कन्याकुमारी आदि स्थानों का वर्णन ऐसे सुन्दर ढंग से किया है कि पढ़ते समय प्रतीत होता है मानो हम कोई उपन्यास पढ़ रहे हों। वह जो कुछ वर्णन करना चाहते हैं, उसका चित्र-सा उपस्थित कर देते हैं। यह सत्य है कि पुस्तक के प्रकाशित होने के उपरान्त नए-नए स्थानों का निर्माण हुआ है, फिर भी पुस्तक की आज भी उपयोगिता है।

स्वतंत्र समाज की शिक्षण-पद्धति—मूल लेखक—डॉ० वी० के० जवली, अनुवादक—में० राजेश्वरय्या, प्रधान गुरुदत्त, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य भण्डार, आगरा, मूल्य दस रुपए।

मूल लेखक शिक्षा जगत् के सुविज्ञ विद्वानों में से हैं। शिक्षण-संबंधी लगभग एक दर्जन आपकी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत पुस्तक के विषय में यह कहना उचित ही है कि इतनी प्रचुरता-सम्पन्न पुस्तक भारतीय भाषाओं में तो क्या, अंग्रेजी में भी मिलना मुश्किल है। मैसूर सरकार द्वारा पुस्तक पुरस्कृत भी हुई है।

सम्पूर्ण पुस्तक चौदह शीर्षकों में विभक्त है—जीवन दृष्टि और शिक्षण, शिक्षण और तत्त्व ज्ञान, शिक्षण के लक्ष्य, लोकसत्ता और शिक्षण, समाज की प्रगति और शिक्षण, अनिवार्य शिक्षण, शिक्षण संस्थाएँ, शिक्षण के नए सिद्धान्त, शिक्षण पद्धति के मूल तत्त्व, शिक्षण के क्षेत्र में नए प्रयोग, शील शिक्षण, पाठ्यक्रम की रचना, शिक्षकों की शिक्षा, शिक्षण की समस्याएँ, पुस्तक के अन्त में अभ्यास और प्रश्न दिए गए हैं, इससे अध्यापकों तथा छात्रों के लिए कार्य सरल हो गया है।

पुस्तक के प्रारम्भिक पाठों में यह स्पष्ट किया गया है कि समाज शिक्षा का एक आवश्यक अंग है। शिक्षण और समाज के आपसी संबंध के बारे में ड्यूवी, ग्रीन, ओढाये, बर्ट्रेण्ड रसेल आदि पाश्चात्य शिक्षणवेत्ता तथा हुमायूँ कबीर, लक्ष्मण स्वामी मुदालियर, के० जी० सैयदेन

आदि भारतीय लेखकों ने बहुत-सी पुस्तकें लिखी हैं। भारतीय लोकतंत्रात्मक स्वतंत्र समाज में शिक्षण पद्धति का क्या स्वरूप हो सकता है, इसकी विवेचना सुन्दर ढंग से की गई है।

पुस्तक की उपयोगिता शिक्षकों के लिए विशेष रूप से है। इसकी साज-सज्जा एवं छपाई अच्छी है।

—कृष्ण नारायण लाल,
कूचा राय गंगाप्रसाद,
मालवीय नगर, इलाहाबाद

पड़ोसी : मूल लेखक—पी० केशवदेव, अनुवादक—सुधांशु चतुर्वेदी, प्रकाशक—साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, नई दिल्ली, संस्करण–१९७६, मूल्य–अठारह रुपए, पृष्ठ ३८७।

"पड़ोसी" साहित्य अकादमी पुरस्कार और सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार से सम्मानित श्री पी० केशवदेव के मूल मलयालम उपन्यास पड़ोसी का हिन्दी अनुवाद है।

श्री पी० केशवदेव ने अपने इस उपन्यास में केरल के तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनीतिक उथल-पुथल का जीता-जागता चित्र प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में केरल में हुए सामूहिक तीन परिवर्तनों को तीन कुटुम्बों में प्रतिविम्बित किया है। सामंतवाद (जागीरदारी) से मिलता-जुलता **मरूमक्कत्तायम** अर्थात् "माता के खानदान को प्रधानता देकर माँ के भाइयों की अपनी बहन के पुत्रों को स्वत्व देने की रीति" सम्प्रदाय का पतन, जातीय विवशताएँ भुगतने वाले ईषवा (अछूत) समुदाय का सफल स्वतन्त्रता-आन्दोलन तथा ईसाई-समुदाय की आर्थिक और शैक्षणिक उन्नति।

सम्पूर्ण उपन्यास में तीन कुटुम्बों के पात्रों के कारण पात्रों की अधिकता है। मंगलश्शेरी खानदान के मालिक पद्मनाथ पिल्लै और पच्चाषी खानदान के मालिक माधवा कुरूप हैं। तीसरा कुटुम्ब अछूत **कुञ्जन** का है। पतन की गर्त में गिरने वाले पच्चाषी खानदान की ओर से किए गए झगड़े ने 'नायर-ईषवा-संघर्ष' आन्दोलन का रूप धारण कर लिया है। इस आन्दोलन के प्रमुख नेता कुञ्जन के पुत्र वासु और दिवाकरन तथा उनके मित्र भास्कर कुरूप और सुकुमारन नायर हैं। उपन्यास की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है। जाति संघर्ष में अछूतों ने विद्रोह किया है। नायरों से विद्रोह करने में ही उन्हें उन्नति का मार्ग दिखाई दिया है। खानदान का गौरव बनाए रखने वाली सुमती अम्मा निकृष्ट कार्य करने पर भी पाठक की सहानुभूति प्राप्त करने में सफल हो गई है। रामचन्द्रन, भास्कर कुरूप, सुकुमारन, रवीन्द्रन आदि सब नई परम्परा के प्रतिनिधियों के रूप में चित्रित किए गए हैं। अछूत कुटुम्ब के मुखिया कुञ्जन के चरित्र को विशेष रूप से उभारा गया है।

उपन्यास में सामूहिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों को विशेष प्रश्रय दिया गया है। उपन्यास की भाषा सरस है। मुहावरों का प्रयोग भाषा को रोचक और प्रभावी बनाता है। अनुवाद होने के कारण भाषा में हिन्दी उपन्यासों जैसा प्रवाह नहीं आ सका है। सम्पूर्ण उपन्यास में जिज्ञासा व्याप्त रहती है।

यह उपन्यास मातृभूमि साप्ताहिक में क्रमशः प्रकाशित हो चुका है। निष्कर्षतः पड़ोसी उपन्यास ज्ञानवर्द्धक और मनोरंजक है। श्री सुधांशु चतुर्वेदी ने मलयालम से इसका हिन्दी अनुवाद कर स्तुत्य कार्य किया है।

आँचल और आग : लेखक--लक्ष्मीनिवास बिरला, प्रकाशन--सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, संस्करण–१९७६, मूल्य–आठ रुपये। पृष्ठ १९६।

'आँचल और आग' प्रसिद्ध उपन्यासकार लक्ष्मीनिवास बिरला की अमर कृति है। आप इतिहासमूलक उपन्यास तथा विचारों को गहराई तक ले जाने वाले निबन्ध लिखने के कारण पाठकों में लोकप्रिय हैं। आपके उपन्यास और निबन्ध संग्रह 'मण्डल' से प्रकाशित होते हैं। 'पद्मिनी का शाप' और 'प्रेम की देवी', आपके इतिहासमूलक उपन्यास हैं। आपने इतिहास के विशिष्ट चरित्रों को, जो किसी कारणवश इतिहास में प्रतिष्ठा प्राप्त करने में असमर्थ रहे हैं, अपने उपन्यासों का विषय बनाकर, उन्हें प्रकाश में लाये हैं। इसलिए इनके उपन्यासों से आनन्दानुभूति के साथ ज्ञानवर्द्धन भी होता है।

प्रस्तुत उपन्यास में इतिहास पुरुष बीसलदेव के शौर्य का वर्णन किया गया है। बीसलदेव सम्भवतः दिल्ली के तोमर राजा जयपाल का समकालीन था। बीसलदेव के ही समकालीन नरेश थे—गुजरात के दुर्लभ और भीम, धार के भोज और उदयादित्य तथा मेवाड़ के पद्मसी और तेजसी। बीसलदेव और अजमेरू के राजा ने महमूद गजनवी को भारत से खदेड़ दिया था।

बीसलदेव स्वतंत्रता का अमर पुजारी था। शत्रु के हाथों कभी भी उसका पराभव नहीं हुआ था। उसकी असाधारण योग्यता की ओर लोगों का यथोचित ध्यान नहीं गया और यही कारण है कि इतिहास में जितनी प्रतिष्ठा उसे मिलनी चाहिए वह न मिल सकी। उपन्यास में बीसलदेव के **यशस्वी** चरित्र के साथ, बीसलदेव की प्रियतमा राजमती के चरित्र को भी लिया गया है। राजमती राजा भोज की कन्या थी। राजमती को प्राप्त करने के लिए बीसलदेव को उसके पिता से युद्ध नहीं करना पड़ा, वरन् राजमती के भाई की, उसके शत्रुओं के विरुद्ध, सहायता करके उन्होंने राजमती के हृदय को जीता था। मध्ययुगीन भारत की छुटपुट घटनाओं को चुनकर, बीसलदेव के चरित्र से सम्बद्ध कर कथानक का निर्माण किया गया है। बीसलदेव की कहानी को इतिहाससम्मत रखने की दृष्टि से, इतिहास का उल्लंघन न होने देने की सावधानी रखी गई है। बीसलदेव के चरित्र में कहीं भी अतिरंजिता नहीं होने पायी है। युद्धों का वर्णन सटीक है। उपन्यास की भाषा सरस और प्रवाहपूर्ण है। उपन्यास में प्रारम्भ से अन्त तक जिज्ञासा व्याप्त रहती है। परिशिष्ट में बीसलदेव का इतिहास संवत् समय, उसके शासनकाल के सम्बन्ध के विभिन्न विद्वानों के मत तथा शिलालेखों से प्राप्त सामग्री का संदर्भ देकर उल्लेख किया गया है। उपन्यास ज्ञानवर्द्धक और रोमांचकारी है। पाठक को ऐतिहासिक ज्ञान के साथ-साथ सुखद आनन्दानुभूति भी देता है।

'वाचिनी देवी' : मूल लेखक—धूमकेतु, अनुवादक—श्यामू संन्यासी, प्रकाशक—के० के० वोरा, वोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड ३, राउण्ड बिल्डिंग कालवादेवी रोड बम्बई-२, संस्करण–१९७६, मूल्य–२० रुपये।

'वाचिनी देवी' धूमकेतु का सुप्रसिद्ध और चौलुक्य उपन्यासमाला का 'गुर्जरपति मूलराजदेव' के बाद का उपन्यास है। इस उपन्यासमाला में धूमकेतु ने 'पराधीन गुजरात'' से आरम्भ कर 'रायकरण घेलो' तक सोलह उपन्यास लिखे और प्रकाशित किए हैं। गुजराती के सोलहों उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित हो चुका है और उन्हें गुजराती उपन्यासों के समान ही लोकप्रियता प्राप्त हुई है।

गुजरात में सोलांकी युग की स्थापना करने वाले महाराज मूलराज थे। उनके एक वीर पुत्र चामुण्डराज तथा पुत्री वाचिनीदेवी थी। महाराज मूलराज के आत्मदहन के पश्चात् युवराज चामुण्डराज ने पाटन का कार्यभार सम्भाला। युवराज चामुण्डराज के तीन पुत्र—वल्लभ-राज, दुर्लभराज तथा नागराज थे। नागराज की मृत्यु बहुत पहले हो गई थी। उसका पुत्र भीमदेव था। वाचिनीदेवी ने ही इन बच्चों का पालन-पोषण किया था।

युवराज चामुण्डराज वीर, तेजस्वी था, परन्तु राजा बनते ही वह विलासप्रिय और निकम्मा हो गया था। इस कारण चारों ओर से शत्रु पाटन को नष्ट करने का सपना देखने लगे थे। मालवा का राजा सिन्धुराज, लाट का राजा कीर्तिराज सभी पाटन की ताक में थे। चामुण्ड-राज के निकम्मेपन के कारण जन-साधारण में तथा राजमहल में उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं रह गई थी। पाटन जब चारों तरफ से विपत्ति में पड़ गया तब एक नारी वाचिनीदेवी का पाटन के रंगमंच पर अभ्युदय हुआ।

प्रस्तुत उपन्यास में वाचिनीदेवी और चामुण्डराज के सत्ता के लिए हुए संघर्ष का वर्णन किया गया है। सम्पूर्ण उपन्यास में घटनाओं का क्रमिक विकास शीर्षक देकर दिया गया है। चामुण्डराज की विलासप्रियता, कामुकता का ऐतिहासिक चित्रण किया गया है। विलासप्रिय राजा के राज्य की दुर्दशा का भलीभाँति चित्रण हुआ है। पाटन शत्रु सेना से घिरा हुआ है और राजा चामुण्डराज वाचिनीश्वर मंदिर की अत्यन्त सुन्दरी नर्तकी नट्टादेवी पर आसक्त है। राजा को देश की कोई चिन्ता नहीं है। ऐसे कठिन समय में वाचिनीदेवी ने दो विशेष कार्य किए—एक तो राजमहल का सारा प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया, दूसरे नर्तकी तथा चामुण्डराज के अभिन्न मित्र महल्ल को राजमहल में आने पर पाबन्दी लगा दी। यह कार्य राजा के अपमान का द्योतक था, परन्तु पाटन की रक्षा का और कोई उपाय न था। संकट की घड़ी में वाचिनीदेवी का कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण और प्रशंसनीय था।

सम्पूर्ण उपन्यास में ३८ घटनाओं का चित्रण किया गया है। वाचिनीदेवी अपने समय की जबर्दस्त कूटनीतिज्ञ वीरांगना और दृढ़चेता महिला है, परन्तु फिर भी वह अपने आपको राजमहल के षड्यन्त्रों से अलग नहीं कर सकी है। पूरा उपन्यास वाचिनीदेवी तथा गुजरात के अनोखे व्यक्ति दामोदर मंत्री के उत्थान-पतन की कथा कहता है। उपन्यास की भाषा सरस और रोचक है। पूरा उपन्यास रोमांचकारी और जिज्ञासापूर्ण है। अनुवाद होने के कारण भाषा

प्रवाहयुक्त नहीं है। श्री श्यामू संन्यासी ने लोकप्रिय उपन्यासों का हिन्दी अनुवाद करके स्तुत्य कार्य किया है।

"उग्रह" : लेखक—राम जैसवाल, प्रकाशक—राजस्थान साहित्य अकादमी (संगम) उदयपुर, संस्करण–१९७७, मूल्य–दस रुपए, पृष्ठ १६९।

राम जैसवाल नई पीढ़ी के कहानीकार हैं। इनका एक कहानी संग्रह 'असुरक्षित' १९७४ में प्रकाशित हुआ था। इस पर आपको अकादमी पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया था।

प्रस्तुत संग्रह में लेखक की बारह कहानियों का संकलन किया गया है। ये सभी कहानियाँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित हो चुकी हैं। पाठकों ने इन कहानियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। संग्रह की कहानियाँ—दाह, अपने से परे, रात भर का कोहरा, अपना होना (एक), अपना होना (दो), वापसी, क्षितिजहीन, सुबह होने तक, एक शाम व्यस्त, प्रतिध्वनि, गलत हिसाब, उग्रह आदि हैं। संग्रह का शीर्षक, इसी संग्रह की एक कहानी शीर्षक पर रखा गया है।

इस संग्रह की प्रत्येक कहानी की सबसे बड़ी विशेषता जीवन दृष्टि की है। इन कहानियों में मनोरंजन नहीं, दृष्टि है, विचार हैं। मानव जीवन की विषमताओं, जटिलताओं, अन्तर्विरोधों एवं दुरूहताओं से भरे जीवन परिवेश का चित्रण इन कहानियों में किया गया है। इन कहानियों ने आधुनिक मानव के उत्पीड़न और उसके दुर्भाग्य की कालिमा का सूक्ष्म यथार्थवादी दृष्टि से सूक्ष्म चित्रण किया गया है। कहानियों में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को प्रश्रय मिला है। सभी कहानियाँ संवेदनशील और जिज्ञासापूर्ण हैं।

राम जैसवाल जी की भाषा सरल और बोलचाल की है। कथोपकथन में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग, कथानक के स्थान एवं समय के अनुसार उपयुक्त है। इससे उनकी स्वाभाविकता तथा यथार्थता पर कोई आँच नहीं आई है। कहानियों की भाषा सरल, सजीव, सुबोध और सशक्त है।

सभी कहानियों का उद्देश्य मानव मनोवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक चित्रण करना है। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से पात्रों को सामाजिक परिवेश के अन्तर्गत चित्रित किया गया है। कहानियाँ प्रायः किसी एक भाव, चरित्र तथा घटना पर निर्मित हैं। इनमें भाव व्यंजना का महत्त्व है।

वस्तुतः 'उग्रह' राम जैसवाल जी की अनुभवगत चित्रित कहानियों का एक उत्कृष्ट संग्रह है।

—डॉ० सन्तोष सक्सेना
५६ नार्थ मलाका
इलाहाबाद-१

लोकतंत्र और भारत : लेखक—डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक—सार्वभौम संस्कृति पीठ, दिल्ली, मूल्य–बारह रुपए। प्रकाशन तिथि–२ अक्टूबर, १९७७।

आलोच्य कृति भारतीय धर्मतत्त्व पर आधारित लोकतंत्र की भूमिका पर प्रकाश डालने के निमित्त लिखी गई है। यत्र-तत्र सूक्तियों का आधार लेकर शाश्वत मानवीय समस्याओं

पर प्रकाश डालने का विद्वान् लेखक ने प्रयास किया है। प्रारंभ में ही लेखक ने प्रेरणादायी सूत्रों को 'लोकतंत्र के मूल मंत्र' शीर्षक के अंतर्गत अंकित किया है। ये सब हैं 'मेरी सब प्राणियों से मित्रता है, किसी से वैर नहीं', 'मानव! तू ही मेरा मित्र है। बाहर किसे खोज रहा है?', 'हमें मित्र से भय न हो, अमित्र से भी भय न हो।' 'जो बातें हमें अच्छी नहीं लगतीं, उनका दूसरे के प्रति आचरण नहीं करना चाहिए।' 'जब तक स्व और पर में भेद है, भय बना रहेगा।' ये आवश्यक सूत्र, आचारांग आदि से गृहीत हैं। विषय वस्तु के अंतर्गत विवेचित विषय हैं लोकतन्त्र के बुनियादी सिद्धान्त, मानव की सर्वोत्कृष्टता, स्वतंत्रता, समता, न्याय, मित्रता आदि।

भारतीय लोकतंत्र के बुनियादी सिद्धान्तों की दृष्टि से यह पुस्तक उपादेय सामग्री और दृष्टि प्रस्तुत करती है। भारत में लोकतंत्र परिपक्वावस्था में निश्चय ही पहुँच रहा है। किन्तु राष्ट्रीय अनुशासन, गुटबाजी, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, संकीर्ण क्षेत्रीयता आदि के व्रणों के कारण वह स्वस्थ स्वरूप नहीं धारण कर पा रहा है। असमानता और गरीबी की विभीषिका से जूझने की समस्या विकट है। किन आधारों में प्रजातंत्रीय आस्था को लेकर शासन तंत्र चल कर लोकहित रक्षक बने लाल फीताशाही और शासकीय निरंकुशता और भ्रष्टाचार की जकड़ से भारतीय अपने अस्तित्व की न केवल रक्षा करने की सामर्थ्य अर्जित करें वरना वह प्रगतिशील होकर समर्थ और रचनात्मक विकास के पथ पर अग्रसर हो। ये समस्याएँ आदर्शवादी और विधिविहित सिद्धांतों और व्यवस्थाओं से कैसे सुलझेंगी ये प्रश्न विचारणीय हैं। वादों और नारों ने भारतीय लोक आस्था को डिगा दिया है। यथार्थपरक आदर्श और व्यवस्थाओं की खोज में यह ग्रंथ दिशा-दृष्टि प्रदान कर सकता है। इस दृष्टि से विचारोत्तेजक सामग्री प्रस्तुत करने के लिए लेखक के प्रयास को न केवल सराहनीय वरन मननीय भी मानना तर्कसंगत होगा।

—हरिमोहन मालवीय
६५३, मालवीय नगर, प्रयाग

सहयोगी-साहित्य

साहित्य परिचय—शैक्षिक प्रगति विशेषांक १९७६, प्रकाशक—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, मूल्य—आठ रुपए।

विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रिका साहित्य परिचय का नवाँ विशेषांक "शैक्षिक प्रगति" नाम से प्रकाशित हुआ है। प्रकाशक ने विश्वविद्यालयीय स्तर की हिन्दी में पुस्तकों का प्रकाशन करके प्रशंसनीय कार्य किया है। यह विशेषांक भी उसी श्रृंखला की एक कड़ी है।

प्रस्तुत पत्रिका में शिक्षाशास्त्रियों द्वारा लिखे गए छाछठ लेख संग्रहीत हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा के क्षेत्र में कितनी प्रगति हुई है, संक्षेप में इसका मूल्यांकन इन लेखों में किया गया है। प्रारम्भिक लेखों में भारतीय शिक्षा के विकास एवं उसकी नीतियों पर प्रकाश डाला गया है। उच्च, माध्यमिक एवं वेसिक शिक्षा, अध्यापक शिक्षा, महिला शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, विकलांगों की शिक्षा, सैन्य शिक्षा, विज्ञान शिक्षा आदि विषयों को सरलतम ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। 'भारतीय शिक्षा में कुछ नवीन विकास', 'शिक्षा नीति का विकास', 'उच्च शिक्षा : साठोत्तरी प्रगति', 'शिक्षा की विशिष्ट संस्थाएँ', 'शिक्षक शिक्षा में नवीन धाराएँ', 'भारत में स्त्री शिक्षा का विकास', 'स्वतंत्र भारत में शैक्षिक परीक्षण : एक मूल्यांकन' आदि लेख विचारपूर्ण एवं समाजोपयोगी उच्च कोटि के हैं। शिक्षा के क्षेत्र में इस विशेषांक की उपयोगिता है और मुझे पूर्ण विश्वास है कि पत्रिका अपने उद्देश्य में सफल है।

साहित्य परिचय—१०+२+३ शिक्षा प्रणाली विशेषांक, प्रकाशक—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, मूल्य—दस रुपए।

भारतीय शिक्षा के इतिहास में परिवर्तन लाने की बात बहुत दिनों से चल रही है। सन् १९४७ के बाद शिक्षा के रूप को बदलने के लिए कई कमीशन नियुक्त किए गए। इनमें कोठारी कमीशन की संस्तुतियाँ भारत की परिस्थितियों के अनुकूल हैं। उसी की शिफारिस पर १०+२+३ की योजना लागू की गई है। इसके पूर्व सैडलर कमीशन ने सर्वप्रथम चर्चा की है। केरल, मध्यप्रदेश, पश्चिमी बंगाल, देहली आदि राज्यों में इस योजना के अनुसार शिक्षा दी जा रही है। परिणाम क्या होगा, यह तो भविष्य बतायेगा। लेकिन इतना सत्य है कि भारतीय शिक्षा में इससे एकरूपता आ सकती है।

साहित्य परिचय का यह विशेषांक सामयिक है। इसमें २२४ पृष्ठों में उनसठ निबन्धों को समाहित किया गया है। देश के जाने-माने शिक्षाशास्त्रियों एवं साहित्यकारों का इस पत्रिका को सहयोग प्राप्त है। १०+२+३ के विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से प्रकाश डाला

गया है। एक ही विषय को लेकर विभिन्न लेख लिखे गए हैं, अतएव वही बातें बार-बार दोहराई गई हैं और ऐसा होना स्वाभाविक भी है। इसमें सन्देह नहीं कि योग्य संपादकों ने विषय के साथ न्याय किया है। योजना की विशेषताओं और त्रुटियों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया गया है। योजना अच्छी है, व्यवसायपरक है लेकिन इसे कार्यान्वित करने में अधिक धनराशि की आवश्यकता है। अतएव सभी राज्य इस व्यय-भार का वहन कर सकेंगे, इसमें सन्देह है।

मेरा स्पष्ट मत है कि शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने वाले तथा शिक्षाशास्त्रियों के लिए दोनों विशेषांक न केवल पठनीय ही हैं अपितु संग्रहणीय भी हैं। पुस्तकालयों को अवश्य इनकी प्रतियाँ रखनी चाहिए।

कृष्णनारायणलाल एम० ए०
कूँचा राय गंगाप्रसाद, प्रयाग

जीवन साहित्य : (स्वर्ण जयंती विशेषांक) सम्पादक—यशपाल जैन, विशेषांक मई-जून १९७६, प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।

इस विशेषांक में विभिन्न विद्वानों, साहित्यकारों तथा राजनीतिज्ञों, के विभिन्न उद्बोधक, उद्गार एवं विचार प्रकाशित हैं। पत्रिका का लक्ष्य है राष्ट्रार्पित और मनुष्यत्व को ऊँचा उठाना। इसका सर्वप्रथम लेख 'त्यागभूमि' है जिसमें जीवन, जागृति, शक्तिबल और बलिदान पर विचारोत्तेजक सामग्री प्रस्तुत की गयी है। इसमें प्रकाशित अन्य बहुत से साहित्यिक लेख भी पठनीय एवं मननीय हैं। 'सस्ता साहित्य मण्डल' का विभिन्न प्रवृत्तियों का परिचय इस विशेषांक द्वारा प्राप्त होता है। 'विदेशों में हिन्दी प्रचार', 'मण्डल एवं प्रवासी भारतीय', 'मण्डल की महत्त्वपूर्ण भूमिका', 'मण्डल' का मूल ध्येय और हमारा दायित्व' आदि ये सभी इस महत्त्वपूर्ण संस्थान की उपलब्धियों का निदर्शन करते हैं।

विशेषांक की सामग्री आधुनिक समाज के लिए प्रेरक एवं जीवन में उन्नति की ओर उन्मुख करने वाली हैं। विशेषांक के संपादक श्री यशपाल जैन ने सस्ता साहित्य मण्डल को तपस्वी की भाँति चैतन्य युक्त संस्थान बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। गांधीवादी मूल्यों के प्रसरण में मण्डल के प्रकाशनों का योगदान अपनी विशिष्ट मूल्यवत्ता रखता है, 'जीवन साहित्य' और उसके विशेषांक उन मूल प्रेरणाओं से समाज को सुरभित करने वाले हैं. इसमें कोई शंका नहीं है।

सुधा बिन्दु [युग विशेषांक], जनवरी-फरवरी १९७६, सम्पादक—डॉ० राजनाथ पाण्डेय, प्रकाशक—राजस्थान सेवा साहित्य, अहमदाबाद, पृष्ठ संख्या–१२४, आकार-डबल क्राउन, मूल्य–५ रुपए।

'सुधा बिन्दु' राजस्थान सेवा समिति, अहमदाबाद का मुखपत्र है। यह लगभग १४ वर्षों से हिन्दी की निरंतर सेवा कर रहा है। इस पत्र की गौरवपूर्ण विशेषांक परम्परा है। इस परम्परान्तर्गत अनेक विशेषांक प्रकाशित हो चुके हैं। उन्हीं में से प्रस्तुत यह 'वर्तमान युग

विशेषांक' भी है जिसका अपना महत्त्व और वैशिष्ट्य है। इसमें 'धर्म और युग संक्रान्ति', 'नए युग की ओर', 'स्वाश्रय और युग धर्म', 'युग का अनुशासन पर्व', 'साहित्य और युग धर्म', 'युग और विद्यार्थी', 'साहित्य और युग', 'युग और युवक', 'युग और मानवता', 'युगीन कर्म-वाद' आदि साहित्यिक निबंध संकलित हैं। जिनमें 'धर्म और युग संक्रान्ति' नामक शीर्षक में धर्म के स्वरूप, चेतना, कार्य-विस्तार आदि पर प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही 'नए युग की ओर' निबंध में दुनिया की समस्याओं का वर्णन तथा वर्तमान गुटबन्दियों आदि का वर्णन है। 'स्वाश्रय और युग धर्म' में भारत की काल गणना पर सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला गया है और युग-धर्म संबंधी सिद्धांतों का भी प्रतिपादन है। 'युग का अनुशासन पर्व' नामक लेख में अनुशासन के महत्त्व पर चर्चा है। यह चर्चा आपात युग में महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी। 'साहित्य और युग धर्म' में साहित्य को युगीन समस्याओं के संदर्भ में परखने की चेष्टा की गई है। 'युग और विद्यार्थी' में विद्यार्थियों की पथभ्रष्टता तथा अनुशासनहीनता के प्रश्न की ज्वलंतता उद्घाटित की गई है।

इस प्रकार सभी निबंधों को देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि इस विशेषांक में युग, धर्म, अनुशासन, साहित्य, समाज, विज्ञान आदि विभिन्न समस्याओं पर विविधतापूर्ण सामग्री संकलित-संपादित की गई है। 'युग विशेषांक' प्रकाशित करने के लिए 'सुधा बिन्दु' के योग्य संपादक और प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

——त्रिवेणीदत्त शुक्ल
३५०, बक्सीखुर्द, दारागंज, प्रयाग

हिन्दी शोध-समीक्षा प्रधान

त्रैमासिकी

सम्मेलन-पत्रिका

⊙

वार्षिक शुल्क : मात्र १५ रुपए

राष्ट्रभाषा हिन्दी एवं भारतीय भाषा का सेतु

पाक्षिक

राष्ट्रभाषा सन्देश

वार्षिक शुल्क : मात्र आठ रुपए

⊙

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

रजिस्ट्रार न्यूज पेपर्स ऐक्ट के अन्तर्गत

विज्ञप्ति

(१)	प्रकाशन का स्थान	:	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
(२)	प्रकाशन की तिथि	:	त्रैमासिक
(३)	मुद्रक का नाम	:	सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग
	राष्ट्रीयता	:	भारतीय
	पता	:	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
(४)	प्रकाशक का नाम	:	जगदीश स्वरूप
	राष्ट्रीयता	:	भारतीय
	पता	:	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
(५)	सम्पादक का नाम	:	डा० कृष्ण पाण्डेय
	राष्ट्रीयता	:	भारतीय
	पता	:	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
(६)	स्वत्वाधिकारी	:	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

मैं जगदीश स्वरूप घोषित करता हूँ कि

उपरिलिखित विज्ञप्ति मेरी जानकारी के अनुसार

बिलकुल ठीक है।

हस्ताक्षर—जगदीश स्वरूप

आदाता

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग